सूरजमल जैन ट्रस्ट प्रकाशन-१०

चौबीस तीर्थंकर

(संक्षिप्त जीवन परिचय)

मूल लेखक : श्री बलभद्र जैन

वितरण कर्त्री :—
श्रीमती शकुन्तला जैन
५ प्रेमपुरी मुजफ्फरनगर

संकलन, लेखन एवं सम्पादन :
सूरजमल जैन (इन्जीनियर)
सुशीला सदन, ७७ प्रेमपुरी
मुजफ्फरनगर (यू०पी०)

१६८८

लागत मूल्य-तीन रुपया
विक्रय मूल्य-सदुउपयोग

— आमुख —

धर्म संस्थापना के दो उपाय है— हृदय परिवर्तन और दंडभय। धर्म नायक पहला उपाय करते हैं जबकि लोक नायक दूसरा उपाय काम में लाते हैं। जिन्होंने जीवन में धर्म का पूर्ण व्यवहार करके अपने जीवन को धर्म मय बना लिया है और दूसरों को उस धर्म का उपदेश देते है वे धर्म नायक होते हैं। मुख्य धर्म नायक तीर्थंकर होते है। वे जन्म-जन्मान्तरों की धर्म साधना द्वारा तीर्थंकर जीवन में धर्म के मूर्तिमान स्वरूप बन जाते हैं। क्योंकि उनके जीवन में किसी प्रकार की मानवीय दुर्बलता, मानसिक, आत्मिक और दैहिक दुर्बलता नहीं रहती, अत: वे कल्याण का उपदेश देकर असंख्य प्राणियों के जीवन को धर्म मय बनाने में सफल होते हैं। इसलिये धर्म नायक तीर्थंकरों की मान्यता और प्रभाव सर्वोपरि है।

तीर्थ शब्द की व्युत्पत्ति तृधातु के साथ थक्‌ लगाकर निष्पन्न होती है। जिसके द्वारा अथवा जिसके आधार से तरा जाय, वह तीर्थ है। अथवा जो इस अपार संसार-समुद्र से पार करे, वह तीर्थ है। ऐसा तीर्थ भगवान जिनेन्द्र का चरित्र ही होता है। उस चरित्र को जो धारण करे वह तीर्थंकर है। तीर्थंकर को परमागम षट खण्डागम (भाग ८ पृ॰ ९१) में धर्मतीर्थ का कर्त्ता बताया है। वे धर्म तीर्थ की पुन: स्थापना करते है। तीर्थंकर केवल चतुर्थ काल ही में होते है। एक अवसर्पिणी अथवा उत्सर्पिणी काल में तीर्थंकरों की संख्या २४ ही होती है, कम-अधिक नही। हम इसे प्रकृति का नियम कह सकते है।

तीर्थंकर भी मनुष्य होते हैं किन्तु सामान्य मनुष्यों से आसाधारण होते है। उनमें वह असाधारणता तीर्थंकर नाम कर्म के कारण होती है, जिसका बन्ध उस साधक को होता है जिसने किसी तीर्थंकर, केवली या श्रुत केवली के पादमूल में किसी जन्म में ग्यारह अंगों का अध्ययन किया हो, दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन किया हो तथा भावना की हो कि मैं संसार के दुखी प्राणियों का दुख किस प्रकार दूर करु। ऐसी उच्च भावना और आशय वाले व्यक्ति को तीर्थंकर

नाम कर्म का बन्ध होता है। इस महान पुण्य-फल वाली तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करके, वह व्यक्ति किसी जन्म में तीर्थंकर बनता है। तीर्थंकर केवल क्षत्रिय कुल ही में उत्पन्न होता है। पुण्य के प्रभाव से उन्हें असाधारण ज्ञान शक्तिशाली शरीर और सांसारिक लक्ष्मी प्राप्त होती है। उस असाधारण पुण्य के कारण ही, इन्द्र, देव, मनुष्य और तिर्यंच, उनके चरणो के सेवक बन जाते हैं। उनके गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण के समय पर इन्द्र और देव यहां आकर उनकी स्तुति करते है और उत्सव मनाते हैं जिन्हें कल्याणक कहा जाता है। अपनी भक्ति प्रदर्शित करने को देव, उनके गर्भ में आने से छः माह पूर्व से जन्म तक, पन्द्रह मास तक उस नगरी में रत्न वर्षा करते है, केवलज्ञान होने पर समवशरण (धर्म सभा) की रचना करते है व और असाधारण अवसरों पर भी, विस्मयकारी दैवी रीति से अनेक कार्य करते हैं।

विदेह क्षेत्र में, भरत व ऐरावत क्षेत्र से भिन्न प्राकृतिक नियम है। वहां चौबीस नहीं, बीस तीर्थंकर सदा विद्यमान रहते है और बीस ही होते हैं। प्रत्येक का जो उस क्षेत्र में नाम होता है, उसी नाम से तीर्थंकर का निर्वाण होने पर दूसरा तीर्थंकर, उस स्थान की पूर्ति कर देता है। वहां पांच कल्याणकों का भी नियम नहीं। किसी तीर्थंकर के पांच कल्याणक होते हैं, किसी के कम। कम से कम दो कल्याणक केवलज्ञान व निर्वाण, अवश्य होते है।

इस भरत क्षेत्र के २४ तीर्थंकरों में ५ (पांच) तीर्थंकरों ने विवाह नहीं किया था। वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे। उनके नाम थे—वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर। यह दिगम्बर परम्परा की मान्यता है। यह परम्परा यह भी मानती है कि तीर्थंकर दीक्षा लेने पर मौन से रहते है। केवलज्ञान होने पर ही उनकी दिव्य ध्वनि खिरती है।

प्रत्येक तीर्थंकर के मुनि संघ में सात प्रकार के संघ होते हैं—पूर्वधर, शिक्षक, अवधि ज्ञानी, केवली, विक्रिया ऋद्धिधारी, विपुल मति और वादी।

एक तीर्थंकर का तीर्थकाल आगामी तीर्थंकर की तीर्थं स्थापना तक रहता है। इस प्रकार धर्म की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रहती है। किन्तु इस हुण्डावसर्पिणी के काल दोष से सात काल ऐसे आये, जब धर्म की व्युच्छित्ति हो गयी। ये सात समय सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयास-नाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ और धर्मनाथ के तीर्थकाल में आये। शेष तीर्थंकरों के काल में, धर्म की परम्परा निरन्तर चलती रही।

इसका कारण यह था कि उस समय किसी ने दीक्षा नहीं ली थी। उक्त सात तीर्थो में क्रम से पाव पल्य, अर्द्ध पल्य, पौन पल्य, पल्य, पौन पल्य, पल्य और पाव पल्य प्रमाण धर्म तीर्थ का उच्छेद रहा।

प्रस्तुत पुस्तक में चौबीस तीर्थंकरों का चरित्र पौराणिक और ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में संक्षिप्त में निबन्ध किया गया है। तीर्थंकरों आदि के चरित्र प्राचीन पुराणों आदि में तो अवश्य गुम्फित मिलते है, किन्तु एक तो वे प्राकृत, संस्कृत या अपभ्रंश भाषा में है, दूसरे उनकी अपनी बर्णन शैली है जिसमें कथाओं में अवान्तर कथायें, भव-भवान्तरों का निरुपण, उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकारों के द्वारा चरित्र निरुपण और सिद्धांतों और उपदेशों की बहुलता रहती है, जिसके कारण आज का व्यस्त किन्तु जिज्ञासु पाठक जो सरल भाषा में व संक्षेप में तीर्थंकरों आदि का चरित्र पढ़ना चहता है और वह बड़े-बड़े पुराणों को देखकर डर जाता है, उनका स्वाध्याय करने से हाथ खीच लेता है। इसका फल यह होता है कि वह जीवन भर तीर्थंकरों आदि के चारित्र से अनभिज्ञ रह जाता है। इसी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुवे, व समय की मांग को देखते हुवे, तीर्थकरो का चरित्र पौराणिक शैली से उबार कर, आधुनिक परिपेक्ष्य, भाषा और शैली में निबन्ध किया गया है। शैली बदले जाने पर भी उसके मूल रूप अर्थात मौलिक चरित्र की विशेषताओ को सुरक्षित रक्खा गया है। इस पुस्तक का संकलन, माननीय श्री बलभद्र जी जैन द्वारा लिखित ग्रथ, "जैनधर्म का प्राचीन इतिहास" से किया है। श्री बलभद्र जी ने अपने इस ग्रथ में भगवान ऋषभदेव व भगवान महावीर का जीवन चरित्र बड़े विस्तृत रूप में किया है परन्तु मैंने पुस्तक को संक्षिप्त रखने के उद्देश्य से उसी के आधार पर बहुत छोटा कर दिया है। जब मैंने उपरोक्त ग्रंथ को पढ़ा तो मै बड़ा प्रभावित हुवा और चौबीस तीर्थंकरों के संक्षिप्त चरित्र को सर्व साधारण तक पहुंचाने का लोभ संवरण न कर सका। मैंने तो केवल इसे लाभकारी व ज्ञान वर्धक समझकर इसका संकलन व सम्पादन किया है, इसका पूरा श्रेय तो विद्वान लेखक श्री बलभद्र जी जैन ही को है, अत: हम उनके बहुत आभारी है।

पुस्तक के अंत में मूलग्रंथ में उपलब्ध तीर्थंकरों से सम्बन्धित महत्व-पूर्ण ज्ञातव्य सूचनाऐ देदी गई है जो पाठकों को बहुत लाभकारी सिद्ध होगी।

इस पुस्तक के प्रकाशन का पूरा व्यय श्रीमती शकुन्तला जैन ध० प० स्व० वासुदेव प्रसाद जैन प्रेमपुरी मुजफ्फरनगर ने तीर्थंकरों के चरित्रो का

सर्वसाधारण में प्रचार करने के उद्देश्य से किया है। इसके लिये ट्रस्ट उनका बहुत आभारी है। त्रिवेणी प्रिन्टर्स के मालिक श्रीपवन कुमार जैन ने इस पुस्तक के प्रूफरीडिंग आदि में मेरी बहुत मदद की है जिसके लिये मैं उनका व्यक्तिगत तरीके से बहुत आभारी हूं। मुझे पूरी आशा है कि सर्व-साधारण इस पुस्तक से अवश्य लाभ उठायेगें।

सूरजमल जैन (इंजीनियर)
सुशीला सदन, ७७ प्रेमपुरी
मुजफ्फरनगर

१०-१-८८

★

विषय अनुक्रमिका-

परिशिष्ट

★

—: शुद्धि पत्र :—

पृष्ठ	लाइन	अशुद्धि	शुद्ध
२	१६	बाकल	बालक
३	२६	सिखलाया दोनों पुत्रियां भगवान से	सिखलाया और बांये हाथ से सुन्दरी को अंक विद्या अर्थात संख्या लिखना सिखलाया
६	१६	जन्म होते होते ही	जन्म होते ही
२१	२८	राजाओं के सथ	राजाओं के साथ
२२	२	भलवान	भगवान
३०	१	५-भगवान सुपार्श्वनाथ	७–भगवान सुपार्श्वनाथ
३०	२०	पति मुख के से	पति के मुख से
३३	३०	जोहन जोदड़ों	मोहन जोदड़ो
५३	७	चला फागुन	चला और फागुन
५४	२६	जब वायु कर्म	जब आयु कर्म
५६	१३	भगवानाओं	भावनाओं
५६	२५	श्रावण के बाहर व्रत	श्रावक के बारह व्रत
६६	१८	उद्धार के शूकरावतार लिये लिये।	उद्धार के लिये शूकरावतार लिया
७६	२१	अनन्तवीर्य प्रहारों से	अनन्तवीर्य के प्रहारो से
६०	२४	धन थे	धन से
६८	११	करना है और जीवन	करना है क्योंकि जीवन
६८	१६	दीक्षा लेली	———————
१०६	२	इस प्रकार पर मिला	इस प्रकार कुल मिला
१०६	११	समस्त घातिया	समस्त अघातिया
१११	२४	गुरुक्षेत्र	कुरुक्षेत्र
१४१	७	तभी शुक्ल में लीन	तभी शुक्ल ध्यान में लीन

★

१. भगवान ऋषभ देव-प्रथम तीर्थंकर

काल चक्र सदा घूमता रहता है। इन परिवर्तनों को लेकर ही यह सृष्टि चल रही है। व्यवहार की सुविधा के लिये जैन धर्म में काल के दो भाग किये हैं, जिनका नाम अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी है। इनमें प्रत्येक के छः छः विभाग किये हैं। सुखमा सुखमा, सुखमा, सुखमा-दुखमा, दुखमा-सुखमा, दुखमा, दुखमा-दुखमा। काल के ये १२ भेद हैं। इन १२ कालों का एक पूरा चक्कर कल्प कहलाता है। उत्सर्पिणी काल में मनुष्यों की आयु अवगाहना, रुचि, स्वास्थ्य, रुप आदि सभी में उत्कर्ष होता रहता है और अवसर्पिणी काल में ह्रास होता रहता है। आजकल अवसर्पिणी काल का दुखमा पांचवा विभाग चल रहा है।

पहले काल मे तीसरा विभाग तक, भोग युग कहा जाता है। इसमें खाने पहनने की सुविधा आदि सब कल्प वृक्षों से प्राप्त होती है। उसके बाद जब तीसरा विभाग (सुखमा-दुखमा) समाप्त होने को होता है तो कल्प वृक्ष अपना काम करना बन्द कर देते हैं जिससे प्रजा को असुविधा होने लगती है, उस समय १४ कुलकर अथवा मनु क्रम से होते हैं, जो प्रजा की शकाओं का समाधान करते हैं। इस काल चक्र में अन्तिम मनु नाभिराय हुवे जिनका निवास अयोध्या अथवा साकेत नगरी था। इसे सुकोशल भी कहा जाता था और कही कहीं विनीता भी कहा जाता था। मनु नाभिराय की रानी का नाम मरु देवी था मनु नाभिराय व मरु देवी के ही प्रथम तीर्थंकर ऋषभ देव का जन्म होने वाला था। अतः कुवेर ने जन्म से पहले ही अयोध्या नगरी को वैभव शाली बना दिया।

भगवान का गर्भावतरण—

आषाढ कृष्णा द्वितीया के उत्तराषाढ़ नक्षत्र में सर्वार्थ सिद्धि विमान से वज्रनाभि अहमिन्द्र का जीव आयु पूर्ण कर मरु देवी के गर्भ में अवतरित हुवा। देवों और इन्द्रों ने आकर गर्भ कल्याणक मनाया। इन्द्र की आज्ञा से श्री, ह्रीं, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नामक षट कुमारी देवियां, माता की सेवा के लिये छोड दी गई।

भगवान का जन्म महोत्सव—

नौ माह पूर्ण होने पर चैत्र कृष्णा नौमी के दिन सूर्योदय के समय, उत्तराषाढ नक्षत्र में और ब्रह्म नामक महायोग में भगवान का जन्म हुवा। उस समय प्रकृति में उल्लास था और समुद्र, पृथ्वी, आकाश, मानो हर्ष से थिरक रहे थे। जन्म के प्रभाव से इन्द्रों के मुकुट चंचल हो गये, आसन कम्पायमान हो गये, भवनवासी देवों के भवनों में शंखों का शब्द, व्यन्तर देवों के लोक में भेरी का शब्द, ज्योतिष्क देवो के विमानों में सिंहों के शब्द और कल्पवासी देवों के विमानों में घण्टाओं के शब्द होने लगे।

सौ धर्म की आज्ञा से सब देव भगवान का जन्म कल्याणक मनाने चल दिये। सौ धर्म देव ने महल में पहुंच कर इन्द्राणी को बालक को लाने की आज्ञा दी। इन्द्राणी ने माया मय बालक को माता के पास सुलाकर, भगवान को लाकर सौ धर्म इन्द्र को सौंप दिया। बालक की सुन्दरता को नेत्रों से निहारने पर भी जब उसकी तृप्ति नहीं हुई तो उसने हजार नेत्र बनाकर प्रभु का रुप देखा और उनकी स्तुति की। उसके बाद ऐरावत हाथी पर सवार हो बालक को सब देवों के साथ गाते, बजाते, नाचते सुमेरु पर्वत पर लेजाकर पाण्डुक शिला पर स्थित कर, क्षीर-सागर से स्वर्ण कलशों में जल लाकर, भगवान का अभिषेक किया। इस प्रकार जन्माभिषेक उत्सव मनाकर इन्द्र व देव, भगवान को लेकर वापिस अयोध्या आये और महलों में भगवान को माता को सौंप, उनकी पूजा की और सब देवों ने मिलकर भगवान के पिछले दस भवों के नाटक किये। जिसे दशावतार नाटक भी कहा जाता है।

इन्द्र ने भगवान का नामकरण ऋषभ किया। नामकरण के बाद इन्द्र और देव अपने अपने स्थान को चले गये।

बाल्य काल—

इन्द्र ने भगवान के लालन पालन के वास्ते व सेवा सुश्रुषा के लिये अलग अलग देवियां नियुक्त करदी थी। उनका कोमल बिस्तर, आसन, वस्त्र आभूषण, अनुलेपन भोजन, वाहन तथा यान, सभी वस्तुयें इन्द्र द्वारा लाई हुई दिव्य थी। कुबेर सब देखभाल स्वयं करता था।

बालक ऋषभ देव जब कुछ बड़े हुवे और क्रीडा करने लगे तो इन्द्र

ने उनके साथ खेलने को देव भी भेज दिये। ऋषभ देव के जन्म से ही दस अतिशय थे। १००८ लक्षण थे, अनन्त बलवीर्य था।

ऋषभ देव का विवाह—

शैशव काल बीतने पर यौवन आया। वे जन्म से ही तीन ज्ञान के धारी थे। पिता नाभिराय ने उनके सामने विवाह का प्रस्ताव किया जो उन्होंने "ॐ" कह कर स्वीकार कर लिया। कच्छ व महा कच्छ की दो बहनें यशस्वती व सुनन्दा थी। उन दोनों राजकुमारियों से ऋषभ देव का विवाह कर दिया गया। इन दोनों रानियों के साथ ऋषभ देव ऐसे लगते थे जैसे कीर्ति और लक्ष्मी से ही सुशोभित हों।

पुत्र पुत्रियों का जन्म—

कुछ दिनों बाद रानी यशस्वती के गर्भ में वह जीव आया जो अपने पूर्व जन्मो में व्याघ्र, अतिगृद्ध, देव, सुबाहु और फिर सर्वार्थ सिद्धि में अहमिन्द्र हुवा था। नौ माह बीतने पर देवी ने देदीप्यमान तेज से परिपूर्ण और महा पुण्यशाली, भरत क्षेत्र का अधिपति होने वाला पुत्र, भरत उत्पन्न किया। इस पुत्र के साथ ही महारानी ने एक पुत्री को भी जन्म दिया, जिसका नाम ब्राह्मी रक्खा गया। इसके बाद रानी यशस्वती ने ९८ और पुत्रों को जन्म दिया। ऋषभ देव की दूसरी रानी सुनन्दा से एक पुत्र व एक पुत्री का जन्म हुवा। पुत्र का नाम बाहुबली रक्खा गया। वह प्रथम कामदेव थे। पुत्री का नाम सुन्दरी रक्खा गया। इस प्रकार भगवान ऋषभ देव को दोनों रानियों से सौ पुत्र और दो पुत्रियां हुई।

लिपि और अंक विद्या का आविष्कार—

एक दिन भगवान ऋषभ देव बैठे, अपनी दोनों पुत्रियों को कला व विनय की शिक्षा देने की सोच रहे थे। तभी दोनों पुत्रियां आ पहुंची। भगवान ने दायें हाथ से ब्राह्मी को लिपि विद्या अर्थात वर्णमाला लिखना सिखलाया। दोनों पुत्रियां भगवान से वांगमय का अध्ययन करके महान विदुषी और ज्ञानवती बन गई। पुत्रियों के समान पुत्रों को भी भगवान ने अनेक कलायें सिखाई। इस प्रकार पुत्र-पुत्रियों को विविध कलाओं और विद्याओं की शिक्षा देकर उन्होंने भोग युग से कर्म युग की ओर आने का मार्ग प्रशस्त किया।

लोक व्यवस्था—

इसके अलावा भगवान ने प्रजा को लोक व्यवस्था की भी शिक्षा दी। उन्होंने लोगों को असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प, इन छः प्रकार की कलाओं का उपदेश दिया इस प्रकार उन्होंने सर्व प्रथम जीवन-धारण की समस्या का समाधान किया था, जिससे वे आदि-ब्रह्मा कहलाये।

इसके अलावा समाज कार्य सुचारु रुप से हो, और सब व्यक्ति अपना अपना कार्य करें, उन्होंने वर्ण व्यवस्था बनाई। जो शस्त्र धारण कर सबकी रक्षा करते थे, वे क्षत्रिय कहलाये। जो खेती व्यापार करते थे वे वैश्य कहलाये। जो शिल्प आदि व सेवा करते थे, वे शुद्र कहलाये। इस प्रकार भगवान ने तीन वर्ण चालू किये। इसीलिये वे प्रजापति भी कहलाये।

इसी प्रकार भगवान ने विवाह व्यवस्था, दण्ड व्यवस्था, रक्षा व्यवस्था और नगर व्यवस्था कायम की। इस प्रकार कर्म युग के आरम्भ में भगवान ने प्रजा के लिये सब व्यवस्था बनाई।

इसके बाद प्रजा ने मिलकर राज्य व्यवस्था चलाने को एक राजा की आवश्यकता समझते हुए, भगवान ऋषभ देव का राज तिलक किया। देवों ने सब समुद्रों व नदियों के जल से उनका अभिषेक किया। महाराज नाभिराय ने अपने मस्तक का मुकुट भगवानके मस्तक पर धारणकर दिया।

राजा बनने पर राजा ऋषभ देव ने जो और व्यवस्था रह गई थी, उनको पूरा किया। उन्होंने राज्य-संस्थापना व बश-स्थापना आदि के नियम बनाये। उसी समय से कुरु वंश व सोम वंश चालू हुवे। इस प्रकार भगवान ने कुलकर व्यवस्था को समाप्त कर कर्म व्यवस्था का प्रचलन किया और दीर्घ काल तक प्रजा का मार्ग प्रशस्त करते रहे। इसी कारण उसी समय प्रजा उन्हे इक्ष्वाकु, गौतम, काश्यप, पुरु, मनु, कुलधर, विधाता, विश्व कर्मा, प्रजापति व स्रष्टा आदि नामों से सम्बोधन करने लगी।

भगवान का कुमार काल बीस लाख पूर्व का था, राज्य काल तिरेसठ लाख पूर्व का था। इस प्रकार उनकी आयु के तिरासी लाख पूर्व बीत गये।

भगवान का वैराग्य व दीक्षा—

एक दिन ऋषभ देव राज दरबार में नीलांजना का नृत्य देख रहे

थे कि तभी नीलांजना की आयु खत्म हो गई। परन्तु इन्द्र ने उसके हटते ही, रस भंग न हो, इस विचार से उसके स्थान पर, उसी के समान आचरण वाली दूसरी नर्तकी खड़ी कर दी। कोई इसको न समझ पाया। पर यह घटना ऋषभ देव से छिपी न रह सकी और उनकी विचार धारा में वैराग्य हो गया। संसार की अनित्यता को विचार उन्होंने मोक्ष मार्ग पर लग जाने और संसारी प्राणियों को उपदेश देने का संकल्प किया। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर, भगवान की पूजा की व प्रार्थना की कि वे धर्म तीर्थ की सृष्टि करें व मोक्ष मार्ग प्रशस्त करें।

भगवान ऋषभ देव ने बड़े पुत्र भरत का राज्याभिषेक किया और उसे अयोध्या का राज्य दिया। युवराज पद पर बाहुबलि को अभिषिक्त किया और उसे पोदनपुर का राज्य दिया। इसी प्रकार शेष सब पुत्रों को राज्य सौंप दिये।

यह सब कर भगवान दीक्षा लेने को चल पडे। उस समय अयोध्या में दो महान उत्सव हो रहे थे-एक भरत का राज्यभिषेक और भगवान का दीक्षा कल्याणक जिसे देव व प्रजा मिलकर मना रहे थे। भगवान सुदर्शना पालकी पर सवार होने चले तो मनुष्यों व देवों में, पहले पालकी कौन उठावे, इस पर विवाद हो गया। अन्त में मामला ऋषभ देव ने ही तय किया कि जो उनके समान संयम करने को सक्षम है वही पालकी उठावे। देवता शर्मिन्दा हो पीछे हट गये। राजा लोगों ने पालकी उठाई और सिद्धार्थक बन में पहुंचे। भगवान ने पूव दिशा की ओर मुख करके, पद्मासन से विराजमान हो, 'नमः सिद्धेभ्य' कहा और पंच मुष्ठियों से केश लुचन किया। इस प्रकार भगवान ने चैत्र कृष्णा नवमी के सायंकाल के समय उत्तराषाढ नक्षत्र में जिन दीक्षा ली। दीक्षा लेते ही उन्हें मन-पर्य:य ज्ञान हो गया भगवान ने जहां दीक्षा ली थी वह स्थान 'प्रयाग' नाम से प्रसिद्ध हो गया।

भगवान की कठोर साधना—

भगवान ने दीक्षा लेते ही शरीर से ममत्व त्याग, मन-वचन-काय को एकाग्र कर, छः मास के उपवास की प्रतिज्ञा लेकर कायोत्सर्ग आसन से विराजमान हो गये। भगवान के साथ-साथ और बहुत से राजाओं व परिवार जनों ने दीक्षा ली थी, पर वे तपस्या मार्ग को पूर्ण रूप से भगवान की तरह न अपना सके। बहुत से मुनि भ्रष्ठ हो गये। इन भ्रष्ठ मुनियों

में कच्छ, महा कच्छ और भरत का पुत्र मारीचि भी था। मारीचि ने एक स्वतंत्र धर्म की भी घोषणा कर दी। भगवान छः माह तक निराहार रह एक ही स्थान पर ध्यानारूढ़ रहे। इतने समय उनके बाल (जटायें) लम्बी हो गई। ध्यान समाप्त होने पर वे आहार के लिये निकले। उन्होंने केवल ज्ञान होने तक मौन व्रत लिया था। प्रजा में कोई मुनिजनोंचित्त आहार बिधि जानता नहीं था। इस प्रकार भगवान के निराहार बिहार करते छः मास और निकल गये और वे हस्तिनापुर पहुंच गये। हस्तिनापुर के राजा सोम प्रभ और उसके लघु भ्राता राजकुमार श्रेयान्स को पहले भव का जाति स्मरण हो, आहार विधि का ज्ञान हो गया। उन्होंने भगवान को पडगाहा और पूजा आदि करके इक्षुरस का आहार दिया। इस प्रकार राजकुमार श्रेयान्स ही इस युग के पहले दानी हुवे। उन्होंने भगवान के पिछले भवों का वर्णन किया और दान देने की विधि बतलाई।

भगवान को केवल ज्ञान प्राप्ति—

भगवान छद्मस्थ अवस्था में एक हजार वर्ष तक तप व विहार करते पुरिमताल नगर के शकट नामक उद्यान में पहुंचे और वट वृक्ष के नीचे ध्यान लीन हो गये। चारों घातिया कर्म नष्ट होने से उन्हें केवलज्ञान हो गया। देवो ने आकर ज्ञान कल्याणक मनाया। वह वृक्ष भी तभी से अक्षयवट कहलाने लगा। देवों ने समवशरण की रचना की। भगवान ने दिव्य ध्वनि द्वारा जो आक्षेपिणी विक्षेपिणी, संवेगिनी, और निर्वेदिनी, इन चार कथाओं को वर्णन करने वाली थी, सबको उपदेश दिया।

भगवान का निर्वाण—

भगवान ने सम्पूर्ण देशों में, एक हजार वर्ष, चौदह दिन कम, एक लाख पूर्व वर्ष तक धर्म-विहार किया। जब आयु १४ दिन की शेष रही तो वे कैलाश पर्वत पर पहुंच गये और माह कृष्णा चतुर्दशी को सूर्योदय के समय अभिजित नक्षत्र में, पूर्व दिशा में शेष अघातिया कर्मों का नाश कर निर्वाण प्राप्त किया सब प्रजा व देवों ने उनका निर्वाण कल्याणक मनाया।

भगवान का परिकर—

भगवान ऋषभ देव के संघ में कुल ऋषियों की संख्या चौरासी हजार थी, जिनमें पूर्वधर ४७५०, शिक्षक ४१५०, अवधिज्ञानी ९०००,

केवली २0,000, विक्रियाधारी २०६००, विपुलमति १२७५0 और वादियों की संख्या १२७५० थी तथा मुनियों की संख्या ८४0८४ थी।

ऋषभ देव के तीर्थ में आर्यिकाओं की संख्या साढ़े तीन लाख थी। श्रावकों की संख्या तीन लाख और श्राविकाओं की संख्या पांच लाख थी।

भगवान के संघ में गणधरों की कुल संख्या चौरासी थी।

भगवान आदिनाथ के समय में पहला चक्रवर्ती भरत हुवा।

२. भगवान अजितनाथ

पूर्व भव—

तीर्थंकर नामकर्म सातिशय पुण्य प्रकृति है। यह प्रकृति उसी महा-भाग के बंधती है, जिसने किसी पूर्व जन्म में दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन किया हो, तदनुकूल अपना जीवन-व्यवहार बनाया हो और जिसके मन में सदाकाल यह भावना जागृत रहती हो—'संसार में दुःख ही दुःख है। प्रत्येक प्राणी यहां दुःखों से व्याकुल है। मैं इन प्राणियों का दुःख किस प्रकार दूर करूं, जिससे ये सुखी हो सकें।' सम्पूर्ण प्राणियों के सुख की निरन्तर कामना करने वाले महामना मानव को तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है अर्थात् आगामी काल में वह तीर्थंकर बनता है। द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ ने भी पहले एक जन्म में इसी प्रकार की भावना की थी। उसकी कथा इस प्रकार है :—

वत्स देश में सुसीमा नाम की एक नगरी थी। वहां का नरेश विमलवाहन बड़ा तेजस्वी और गुणवान था। उसमें उत्साह शक्ति, मंत्रशक्ति और फलशक्ति थी। वह उत्साह सिद्धि, मंत्रसिद्धि से युक्त था। वह पुत्र के समान अपनी प्रजा का पालन करता था। उसके पास भोगों के सभी साधन थे, किन्तु उसका मन कभी भोगों में आसक्त नहीं होता था। वह सदा जीवन की वास्तविकता के बारे में विचार किया करता—जिस जीवन के प्रति हमारी इतनी आसक्ति है, इतना अहंकार है, वह सीमित है। क्षण-प्रतिक्षण वह छीज रहा है और एक दिन वह समाप्त हो जायगा। इसलिये भोगों में इसका व्यय न करके आत्म-कल्याण के लिये इसका उपयोग करना चाहिए।

यह विचार कर उसने एक क्षण भी व्यर्थ नष्ट करना उचित नहीं समझा और अपने पुत्र को राज्य-शासन सौंपकर अनेक राजाओं के साथ उसने दैगम्बरी दीक्षा धारण कर ली। उसने ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त कर लिया, दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तवन किया। फलतः उसे तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो गया। आयु के अन्त में पंच परमेष्ठियों में मन स्थिर कर समाधिमरण कर वह विजय

नामक अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुआ।

भगवान अजितनाथ का गर्भ कल्याणक—

भगवान के जन्म लेने से छह माह पूर्व से इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने साकेत नगरी के अधिपति इक्ष्वाकु वंशी और काश्यपगोत्री राजा जितशत्रु के भवनों से रत्नवर्षा की। ज्येष्ठ कृष्णा अमावस्या को महाराज जितशत्रु की रानी विजयसेना के गर्भ में विमलवाहन का जीव स्वर्ग से आयु पूर्ण होने पर अवतरित हुआ। उस रात्रि के अन्तिम प्रहर में महारानी ने सोलह शुभ स्वपन देखे। स्वपन दर्शन के पश्चात् उन्होंने देखा कि मुख में एक मदोन्मत्त हाथी प्रवेश कर रहा है। प्रात.काल होने पर महारानी ने अपने पति के पास जाकर स्वप्नों की चर्चा की और उनका फल जानना चाहा। महाराज ने अपने अवधिज्ञान से जानकर हर्षपूर्वक बताया कि तुम्हारे गर्भ में तीर्थंकर अवतीर्ण हुए हैं।

भगवान का जन्म महोत्सव—

नौ माह पूर्ण होने पर माघ शुक्ला दशमी के दिन प्रजेश योग में तीर्थंकर भगवान का जन्म हुआ। जन्म होते होते ही इन्द्रों और देवों ने आकर भगवान का जन्म कल्याणक मनाया और सुमेरु पर्वत पर ले जाकर पाण्डुक शिला पर उनका जन्माभिषेक किया। उनका वर्ण तप्त स्वर्ण के समान था। आपका चिन्ह हाथी था।

जब भगवान को यौवन दशा प्राप्त हुई तो उनका अनेक सुन्दरी राज कन्याओं के साथ विवाह हो गया और वे संसार के भोग भोगने लगे। राजा जितशत्रु अब वृद्ध हो चुके थे। उन्होंने अपने पुत्र को बुलाकर स्वयं मुनि-दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की और राज्य-भार उन्हें सौंपकर वन में जाकर दीक्षा लेली। अब भगवान अजितनाथ प्रजा का पालन करने लगे। प्रजा उनके न्याय और व्यवहार के कारण उन्हें प्राणों से भी अधिक प्रेम करती थी।

भगवान का दीक्षा ग्रहण—

यद्यपि अजितनाथ भगवान राज्य कर रहे थे और स्त्रियों का भोग भी करते थे, किन्तु उनके मन में सदा विराग की ही भावना रहती थी। वे भोगों में कभी आसक्त नहीं हुए। वे अनासक्त वृत्ति से ही संसार के सब

कार्य किया करते थे। एक दिन वे महल की छत पर बैठे हुए प्रकृति की शोभा देख रहे थे कि उन्हें बादलों में एक क्षण को उल्का दिखाई पड़ी और तत्क्षण वह विलीन हो गई। भगवान को इस चंचल और अस्थिर उल्का को देखकर बोध हुआ—संसार के भोग और यह लक्ष्मी भी इसी प्रकार चंचल और अस्थिर है। उन्होंने इन भोगों और इस विनश्वर लक्ष्मी का त्याग करने का तत्काल मन में सकल्प कर लिया। तभी लौकान्तिक देवों ने ब्रह्म स्वर्ग से आकर भगवान के संकल्प की सराहना की। भगवान ने अपने पुत्र अजितसेन का राज्याभिषेक किया और दीक्षा लेने चल दिए। इन्द्रों और देवों ने उनका निष्क्रमण महोत्सव मनाया। भगवान माघ शुक्ला ६ को रोहिणी नक्षत्र का उदय रहते सहेतुक वन में सप्तवर्ण वृक्ष के नीचे सायंकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा लेली। दीक्षा लेते ही उन्हें तत्काल मन:पर्यय ज्ञान हो गया।

भगवान को केवल ज्ञान—

उन्होंने दूसरे दिन साकेत नगरी में ब्रह्मा नामक राजा के घर आहार लिया। वे फिर वनों में जाकर घोर तप करने लगे। बारह वर्ष तपस्या करने के पश्चात् उन्हें पौष शुक्ला एकादशी की सन्ध्या के समय रोहिणी नक्षत्र में लोकालोक प्रकाशक निर्मल केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इन्द्रों और देवों ने आकर केवलज्ञान की पूजा की। समवसरण की रचना हुई और भगवान ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया।

भगवान का परिवार—

उनके परिकर में ९० गणधर, ३७५० पूर्वधारी, २१६०० शिक्षक, ९४०० अवधिज्ञानी, २0000 केवल ज्ञानी, २०४०० विक्रिया ऋद्धिधारी १२४५० मन: पर्ययज्ञानी और १२४०० अनुत्तरवादी थे। कुल एक लाख मुनि, तीन लाख बीस हजार आर्यिकायें, तीन लाख श्रावक और पांच लाख श्रविकायें थी ।

भगवान का निर्वाण कल्याणक—

उन्होंने समस्त आर्य क्षेत्र में बिहार किया। उनके उपदेशों को सुनकर असंख्य प्राणियों ने आत्म-कल्याण किया। अन्त में सम्मेदाचल पर पहुंचकर एक माह का योग-निरोध करके समस्त अवशिष्ट कर्मों का क्षय

कर दिया और चैत्र शुक्ला पंचमी को प्रातःकाल के समय भगवान को निर्वाण प्राप्त हो गया।

भगवान अजितनाथ का तीर्थ—

भगवान अजितनाथ भगवान ऋषभदेव के काफी समय पश्चात् उत्पन्न हुए थे। भगवान अजितनाथ को जब केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, तब तक भगवान ऋषभ देव का तीर्थ प्रचलित था। केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भगवान अजित नाथ का तीर्थ प्रवृत्त हुआ और वह तीसरे तीर्थंकर संभवनाथ को केवलज्ञान प्राप्त होने तक चला। आपके समय में दूसरा रुद्र हुआ।

यक्ष-यक्षिणी—

आपका सेवक महायक्ष और सेविका रोहिणी यक्षिणी थी।

भगवान अजितनाथ के समय में सगर नामक दूसरा चक्रवर्ती हुवा।

३. भगवान सम्भवनाथ

पूर्व भव—

विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तरी तट पर कच्छ नामक देश था। वहां का राजा विमलवाहन था। वह राज्य के विपुल भोगों के मध्य रहकर भी अनासक्त जीवन व्यतीत करता था। एक दिन उसने भोगों पर विजय प्राप्त करने की इच्छा से राजपाट अपने पुत्र विमलकीर्ति को सौंपकर भगवान स्वयंप्रभ तीर्थंकर के चरणों में मुनि-दीक्षा ले ली। उन्होंने ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त कर तीर्थंकर के चरण मूल में सोलह कारण भावनाएँ भाई। इससे उन्होंने तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर लिया। आयु के अन्त में सन्यास मरण करके प्रथम[1] ग्रैवेयक के सुदर्शन विमान में अहमिन्द्र देव हुए। वहां भी उनकी भावना और आचरण धर्ममय था और सदा धार्मिक चर्चा में ही समय व्यतीत होता था। वहां का विपुल वैभव और भोग की सामग्री भी उन्हें लुभा न सकी।

गर्भ कल्याणक—

श्रावस्ती नगरी के अधिपति दृढराज्य[2] बड़े प्रभावशाली नरेश थे। उनकी धर्म-प्राण महारानी का नाम सुषेणा था। सुषेणा माता के गर्भ में तीर्थंकर प्रभु अवतार लेने वाले है, इस बात की सूचना देने के लिये ही मानो गर्भावतरण से छह माह पूर्व से ही रत्नवृष्टि होना प्रारम्भ हो गई। फाल्गुन शुक्ला अष्टमी के प्रात:काल माता सुषेणा ने सोलह स्वप्न देखे। इन स्वप्नों के बाद में उन्होंने स्वप्न में देखा कि एक विशालकाय हाथी उनके मुख में प्रवेश कर रहा है। उन्होंने पति देव से स्वपनों की चर्चा की। महाराज हर्षित होकर स्वप्न फल बताते हुए बोले—देवी! त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान हमारे पुण्योदय से हमारे घर में जन्म लेने वाले हैं। महारानी को सुनकर बड़ा आनन्द हुआ। उसी रात्रि को उपर्युक्त अहमिन्द्र का जीव उनके गर्भ में आया।

---

१. श्वेताम्बर मान्यतानुसार सप्तम ग्रैवेयक

२. तिलोयपण्णत्ती के अनुसार पिता का नाम जितारि और माता का नाम सुषेना, श्वेताम्बर मान्यतानुसार पिता जितारि और माता का नाम सेना देवी था।

जन्म कल्याणक—

नौ माह व्यतीत होने पर कार्तिक शुक्ला पूर्णमासी[3] के दिन मृगशिरा नक्षत्र और सौम्य योग में मति-श्रुत-अवधि ज्ञानधारी पुत्र का जन्म हुआ। इन्द्रों और देवों ने भगवान का जन्म-महोत्सव मनाया, उन्हें सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के जल से उनका अभिषेक किया। फिर बाल प्रभु को श्रावस्ती के राज प्रसादों में लाकर सौधर्म इन्द्र ने उनका नाम 'संभव' रक्खा और वहाँ आनन्द नाटक करके देवों के साथ स्वर्ग चला गया। आपका घोड़े का चिन्ह था।

कुमार संभव दिव्य सुखों का भोग करते थे। दिव्य वस्त्रालंकार धारण करते थे। युवावस्था में पिता ने उनका राज्याभिषेक करके दीक्षा धारण कर ली। अब महाराज सभवकुमार प्रजा का पालन करने लगे। उनकी पत्नी अत्यन्त सुन्दर और सुशील थी। उन्हे मनवांछित सुख प्राप्त थे।

निष्क्रमण कल्याणक—

प्रभु एक दिन अपने प्रासाद की छत पर बैठे हुए थे। सुहावना मौसम था। शीतल पवन बह रहा था। आकाश में मेघ आंखमिचौनी करते डोल रहे थे। तभी यकायक मेघ न जाने, कहाँ विलीन हो गये। भगवान के मन में विचार आया-जीवन और वैभव, भोग और संसार के सम्पूण पदार्थ इन चंचल बादलो के समान क्षणभंगुर हैं। जीवन के अमोल क्षण इन भोगों में ही बीते जा रहे हैं, अब मुझे आत्म-कल्याण करना है और इस जन्म-मरण के पाश को सदा के लिये काटना है।

तभी पांचवें स्वर्ग की आठों दिशाओं में रहने वाले लौकान्तिक देव आये और उन्होंने भगवान के वैराग्य की सराहना की और भगवान की स्तुति करके लौट गये।

भगवान ने अपने पुत्र को राज्य देकर दीक्षा के लिये देवों द्वारा लाई हुई सिद्धार्थ पालकी में प्रस्थान किया और नगर के बाहर सहेतुक वन में शाल्मली वृक्ष के नीचे एम हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण कर ली दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। वे दीक्षा लेकर ध्याना-रूढ़ हो गये। दूसरे दिन आहार के लिये वे श्रावस्ती नगरी में पधारे और

---

३. उत्तर पुराण के अनुसार। तिलोयपण्णत्ती के अनुसार मंगसिर शुक्ला १५। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार मंगसिर शुक्ला १४।

सुरेन्द्रदत्त नामक राजा ने उन्हें पड़गाह कर आहार दिया। भगवान के प्रताप से देवों ने पंचाश्चर्य किये।

केवलज्ञान कल्याणक—

भगवान संभवनाथ चौदह वर्ष तक विभिन्न स्थानों पर विहार करके तप करते रहे। तदन्तर वे दीक्षा वन में पहुंचे और कार्तिक कृष्णा चतुर्थी के दिन मृगशिर नक्षत्र में चारघातिया कर्मों का नाशकरके अनन्त चतुष्टय को प्राप्त हुए, चारों प्रकार के देवों ने आकर भगवानका कैवल्य महोत्सव किया और केवलज्ञान की पूजा की। भगवान को दिव्य ध्वनि समवसरण में इसी दिन खिरी।

भगवान का परिकर—

भगवान के मुख्य गणधर का नाम चारुषेण था। उनके गणधरो की कुल संख्या १०५ थी। उनके संघ में २१५० पूर्वधारी, १२६३०० उपाध्याय, ६६०० अवधिज्ञानी, १५००० केवल ज्ञानी, १६८०० विक्रियाऋद्धिधारी, १२१५० मनःपर्ययज्ञानी, १२००० वादी मुनि थे। इस प्रकार मुनियो की कुल संख्या दो लाख थी, आर्यिकाये तीन लाख बीस हजार थी। उनके अनुयायी श्रावकों की संख्या तीन लाख तथा श्राविकायें पांच लाख थी। भगवान ने आर्य देशों में बिहार करके धर्म की देशना दी। अनेक जीवों ने उनका उपदेश सुनकर कल्याण किया।

निर्वाण महोत्सव—

आयु का जब एक माह अवशिष्ट रह गया, तब भगवान ने एक हजार मुनियों के साथ सम्मेद शिखर पर प्रतिमायोग धारण कर लिया और चैत्र शुक्ला षष्ठी को सम्पूर्ण अवशिष्ट अघातिया कर्मों का नाश करके निर्वाण प्राप्त किया। मनुष्यों और देवों ने वहाँ आकर भगवान का निर्वाण महोत्सव मनाया।

यक्ष यक्षिणी—

आपका श्रीमुख यक्ष और प्रज्ञप्ति यक्षिणी थी।

श्रावस्ती—

यह उत्तर प्रदेश में बलरामपुर-बहराइच रोड के किनारे है।

बलरामपुर से बस, टैक्सी और जीप भी मिलती हैं। अयोध्या से गोंडा होते हुए यह ६८ मील है।

प्राचीन भारत में कोशल जनपद था। कोशल के दक्षिणी भाग की राजधानी अयोध्या थी और उत्तर कोशल की राजधानी श्रावस्ती थी। महावीर के काल में यहां का राजा प्रसेनजित था। जब महावीर बाईस वर्ष के थे, उस समय यहां भयंकर बाढ़ आई। अचिरावती (ताप्ती) के किनारे अनाथपिण्डद सेठ सुदत्त की अठारह करोड़ मुद्रायें गढ़ी थी। बाढ़ में वे सब बह गयी।

यहां जितशत्रु नरेश के पुत्र मृगध्वज ने मुनि-दीक्षा ली और यहीं पर उनका निर्वाण हुआ। (हरिवंश पुराण २८/२६)

सेठ नागदत्त ने स्त्री चरित्र से खिन्न होकर मुनि-व्रत धारण किये और यही से मुक्त हुए। (करकण्डु चरिउ)

इस प्रकार यह सिद्धक्षेत्र भी है।

यह उस समय व्यापारिक केन्द्र था और बड़ा समृद्ध नगर कहलाता था। इसकी यह समृद्धि १२-१३ वी शताब्दी तक ही रही। महमूद गजनवी भारत के अनेक नगरों को लूटता औरजलाता हुआ जब गजनी लौटगया तो वह अपने पीछे अपने भानजे सैयद सालार मसऊद गाजी को बहुत बड़ी सेना देकर अवध-विजय के लिये छोड़ गया। वह अवध को जीतता हुआ बहराइच तक पहुंच गया। उस समय श्रावस्ती का राजा सुहलदेव अथवा सुहृद्ध्वज था। वह जैन था। जैन युद्ध में कभी पीछे नहीं हटे। सुहलदेव भी सेना सजाकर कौड़ियाला के मैदान में पहुंचा। गाजी और सुहलदेव का वहां डटकर मोर्चा हुआ। इस युद्ध में सन् १०३४ में सैयद सालार और उसकी सारी फौज सुहलदेव के हाथों मारी गई। जैन राजा जितने अहिंसक होते थे, उतने देश भक्त और वीर भी होते थे। किसी जैन राजा ने कभी देश के प्रति विश्वासघात किया हो अथवा युद्ध से मुंह मोड़ कर भागा हो, ऐसा एक भी उदाहरण इतिहास में नहीं लिलता।

पुरातत्व—

कभी यह नगरी अत्यन्त समृद्ध थी। किन्तु आतताइयों ने या प्रकृति ने इसे खण्डर के रुप में परिवर्तित कर दिया। ये खण्डहर सहेट महेट नाम से मीलों में बिखरे पड़े हैं। यहां पुरातत्व विभाग की ओर से कई बार

खुदाई हो चुकी है फलतः यहां महत्वपूर्ण पुरातत्व सामग्री निकली है। इस सामग्री में जैन स्तूपों और मन्दिरों के अवशेष, मूर्तियां, ताम्रपत्र आदि भी निकले हैं। सहेट भाग में प्रायः बौद्ध सामग्री मिली है और महेट भाग में प्रायः जैन सामग्री। यह सामग्री ईसा पूर्व चौथी शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक तक की है। इमलिया दरवाजे के निकट भगवान सम्भवनाथ का जीर्ण शीर्ण मन्दिर खड़ा है। यह अब सोभनाथ का मन्दिर कहलाता है. जो संभवनाथ का ही विकृत रुप है। खुदाई के समय यहा अनेक जैन मूर्तियां मिली थीं। इनके अतिरिक्त चैत्यवृक्ष, शासन देवताओं की मूर्तियां भी प्राप्त हुई थी। ये सब प्रायः ११-१२ वीं शताब्दी की है। पुरातत्त्ववेत्ताओं की मान्यता है कि यहां आसपास अठारह जैन मन्दिर थे, जिनके अवशेषों पर अब झाड़ियां और पेड़ उग आये हैं। कुछ लोगों की मान्यता है कि चन्द्र प्रभ भगवान का जन्म स्थान यहीं पर था।

यहाँ बौद्धों के तीन नवीन मन्दिर बन चुके हैं और बैसाखी पूर्णिमा को उनका मेला लगता है, जिसमें अनेक देशों के बौद्ध आते हैं।

४. भगवान अभिनंदननाथ

पूर्व भव—

जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण तट पर मंगलावली नाम का एक देश था। उसमें रत्नसचय नामक नगर में महाबल नाम का एक राजा था। वह कीर्ति, सरस्वती और लक्ष्मी तीनो का ही स्वामी था। एक दिन उसने आत्म-कल्याण की भावना से राजपाट अपने पुत्र धनपाल को सौपकर विमलबाहन नामक मुनिराज के पास सयम धारण कर लिया। कुछ ही काल में वह ११ अगो का पाठी हो गया। उसने सोलह कारण भावनाओ का निरन्तर चिन्तन करते हुए उनको अपने जीवन में मूर्त रुप दिया। अत: उसे तीर्थकर नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। आयु के अन्त में उसने समाधिमरण किया आर विजय नामक पहले अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुआ।

गर्भावतरण—

अयोध्या नगरी का इक्ष्वाकु वशी काश्यपगोत्री स्वयवर नामक एक राजा था। उसकी पटरानी का नाम सिद्धार्था था। भगवान के गर्भावतरण से छह माह पूर्व से देवो ने रत्न–वर्षा करना प्रारम्भ कर दिया। बैसाख शुक्ला षष्ठी को पुनर्वसु नक्षत्र में महारानी को सोलह स्वप्न दिखाई दिए। स्वप्नो के पश्चात् उसने अपने मुख में प्रवेश करता हुआ हाथी देखा। उसी समय विजय विमान से वह अहमिन्द्र अपनी आयु पूर्ण करके उसके गर्भ में आया। पति से स्वप्नो का फल सुनकर महारानी अत्यन्त सन्तुष्ट हुई।

जन्म कल्याणक—

नौ माह पूर्ण होने पर माघ शुक्ला द्वादशी को अदिति योग में माता ने पुत्र उत्पन्न किया। इन्द्रो और देवो ने आकर सुमेरु पर्वत पर ले जाकर एक हजार आठ कलशो से उनका अभिषेक किया। इन्द्राणी ने बाल प्रभ का शृंगार किया। उनकी भुवनमोहनी छवि को हजार नेत्र बनाकर सौधर्मेन्द्र देखता रहा और भक्ति में विह्वल होकर उसने ताडव नृत्य किया। फिर वहा से लौटकर देव भगवान को अयोध्या लाये। इन्द्र ने बाल प्रभु को माता पिता को सौपकर आनन्द मनाया और बालक का

नाम 'अभिनन्दननाथ' रखकर सब देवो के साथ वह स्वर्ग को वापिस चला गया। उनका जन्म लांछन बन्दर था।

दीक्षा कल्याणक—

यौवन प्राप्त होने पर उनका विवाह पिता ने सुन्दर राजकन्याओं के साथ कर दिया और उनका राज्याभिषेक करके मुनि-दीक्षा लेली। महाराज अभिनन्दन नाथ राज्य करने लगे। एक दिन वे आकाश में मेघों की शोभा देख रहे थे। मेघों में गन्धर्व नगर का आकार बना हुआ दीख पड़ा। थोड़ी देर में वह आकार नष्ट हो गया। मेघ भी विलीन हो गये। प्रकृति की इस चंचलता का प्रभाव भगवान के मन पर पड़ा। वे चिन्तन में डूब गये—संसार के भोगों की यही दशा है। ये शाश्वत नहीं है, क्षणिक हैं। इनमें सुख नहीं, सुख की कल्पना मात्र है। आत्मा का सुख ही शाश्वत है, वही वास्तविक है। मुझे उसी शाश्वत के लिये प्रयत्न करना है।

तभी लौकान्तिक देवो ने आकर भगवान की पूजा की और उनके संकल्प की सराहना की। देवो ने भगवान का निष्क्रमण कल्याणक मनाया। भगवान हस्तचित्रा नामक पालकी में विराजमान होकर नगर के बाहर अग्र उद्यान में पधारे। वहा उन्होने माघ शुक्ला द्वादशी के दिन अपने जन्म-नक्षत्र के समय एक हजार राजाओं के साथ शालमली वक्ष के नीचे जिन-दीक्षा धारण कर ली और ध्यान लगाकर बैठ गये। दूसरे दिन वे पारणा के निमित्त अयोध्या नगरी में पधारे। वहाँ इन्द्रदत्त ने आहार-दान देकर पुण्योपार्जन किया। देवों ने पचाश्चर्य किये।

केवलज्ञान कल्याणक—

भगवान ने अठारह वर्ष तक मौन रहकर विभिन्न स्थानों में विहार किया। वे नाना प्रकार के तप करते रहे। एक दिन भगवान दीक्षा-वन में असन वृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर ध्यानारूढ हो गये। तभी पौष शुक्ला चतुर्दशी के दिन शाम के समय पुनर्वसु नक्षत्र में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। तभी देवों और इन्द्रों ने आकर उनकी पूजा की। समव-शरण की रचना हुई। उसमें गन्धकुटी में बैठकर भगवान की दिव्य देशना प्रगट हुई।

भगवान का परिकर—

भगवान के परिकर में वज्रनाभि आदि १०३ गणधर थे। २५००

पूर्वधारी, २३००५० शिक्षक, ९८०० अवधिज्ञानी, १६००० केवलज्ञानी, १९००० विक्रियाऋद्धिधारी, ११६५0 मन: पर्ययज्ञानी और ११000 प्रचण्ड वादी थे। इस प्रकार कुल मुनियों की संख्या तीन लाख थी। इनके अतिरिक्त ३३0६00 अर्जिकायें, ३00000 श्रावक और ५00000 श्राविकाये थीं

निर्वाण कल्याणक—

दीर्घ काल तक भगवान ने समस्त देशों में विहार करके उपदेश दिया और असंख्य जीवों का कल्याण किया। जब आयु में एक माह शेष रह गया, तब वे सम्मेद शिखर पर पधारे। वे एक माह तक ध्यानारुढ़ रहे। अन्त में उन्होंने बैशाख शुक्ला षष्ठी के दिन प्रातःकाल के समय पुनर्वसु नक्षत्र में अनेक मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया। इन्द्रों और देवों ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

भगवान संभवनाथ का तीर्थ भगवान अभिनन्दननाथ की केवलज्ञान-प्राप्ति तक रहा। जब भगवान अभिनन्दननाथ की प्रथम दिव्य ध्वनि खिरी तबसे उनका तीर्थ प्रवृत हुआ। तीर्थंकर का धर्म-चक्र-प्रवर्तन ही तीर्थ प्रवर्तन कहलाता है।

यक्ष-यक्षिणी—

भगवान के सेवक यक्ष का नाम यक्षेश्वर और यक्षिणी का नाम वज्रशृंखला था।

५. भगवान सुमतिनाथ

पूर्व भव—

धातकी खण्ड द्वीप में पूर्व मेरु पर्वत से पूर्व की ओर स्थित विदेह क्षेत्र में सीतानदी के उत्तर तट पर पुष्कलावती नामक एक देश था। उसमें पुण्डरीकिणी नाम की एक नगरी थी, जिसमें रतिषेण नाम का राजा राज्य करता था। उसने खूब धन अर्जित किया और खूब धर्म करता था। एक दिन उसने विचार किया—अर्थ और काम से तो सुख मिल नहीं सकता। सुख केवल धर्म से ही प्राप्त हो सकता है। अतः उसने अपने पुत्र अतिरथ को राज्य सौंपकर मुनि-दीक्षा लेली और भगवान अभिनन्दन के चरण मूल में उसने ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त किया तथा सोलह कारण भावनाओ का निरन्तर चिन्तन और व्यवहार करने से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया। आयु के अन्त में समाधिमरण करके वैजयन्त विमान में वह अह-मिन्द्र बना।

गर्भ कल्याणक—

अयोध्या नगरी के राजा का नाम मेघरथ[1] था। वह भगवान ऋषभ देव के वंश और गोत्र का था। उसकी पटरानी मंगला थी। भगवान के गर्भावतार से छह माह पहले से उनके प्रासाद में रत्नवर्षा हुई जो पन्द्रह माह तक होती रही। एक दिन रानी ने श्रावण शुक्ला द्वितीया को मघा नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह स्वप्न देखे। तदन्तर उन्होंने अपने मुख में एक विशालकाय हाथी प्रवेश करते हुए देखा। महाराज ने महा-रानी के मुख से स्वप्नो की बात सुनकर हर्षपूर्वक कहा—देवि ! तुम्हारी कुक्षि में तीर्थंकर प्रभु ने अवतार लिया है। स्वप्न का फल सुनकर महारानी को बड़ी प्रसन्नता हुई। वह अहमिन्द्र ही उनके गर्भ में आया था।

जन्म कल्याणक—

नौ माह पूर्ण होने पर चैत्र शुक्ला एकादशी को मघा नक्षत्र में महा-रानी मंगला ने तीन ज्ञान के धारी त्रिभुवनपति को जन्म दिया। चारों

---

१. तिलोयपण्णत्ती के अनुसार मेघप्रभ नाम था।

निकाय के देव और इन्द्र वहां आये। उन्होंने भगवान के दर्शन करके अपना जन्म सफल माना। वे बालक प्रभु को ऐरावत हाथी पर विराजमान करके सुमेरु पर्वत पर ले गये। वहां उन्होंने पाण्डुक शिला पर विराजमान करके क्षीर सागर के जल से भगवान का अभिषेक किया। इन्द्र ने भगवान की भक्ति करके उनका नाम सुमतिनाथ रखा। चक्रबाक पक्षी इनका चिन्ह था।

भगवान धीरे-धीरे दूज के चन्द्रमा की भांति बढने लगे। वे रूप में कामदेव को लज्जित करते थे। इस प्रकार क्रमश: वे यौवन अवस्था को प्राप्त हुए। पिता मेघरथ ने आत्मकल्याण के लिये अपने त्रिलोक के गुरु पुत्र को राज्य देकर मुनि-दीक्षा ले ली। भगवान ने न्यायपूर्वक राज्य चलाया। अनेक स्त्रियों के साथ सांसारिक भोग भोगे। वे इन्द्र द्वारा भेजे गये अशन वसन आदि का भोग करते थे। इस प्रकार राज्य भोग करते हुए बहुत समय बीत गया।

दीक्षा कल्याणक—

एक दिन भगवान बैठे हुए चिन्तन में लीन थे। उन्होंने अपने पूर्व जन्मों का स्मरण किया—मैं पूर्वजन्म में पच अनुत्तर विमानों में से दूसरे वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र था। मैंने वहाँ सभी प्रकार की सुख सामग्री का भोग किया किन्तु मेरे दुःखों का अन्त नहीं आया और यह मनुष्य भव पाकर और तीन ज्ञान का धारी होने पर भी मैं इन्द्रिय भोगों में फंसा रहा। फिर साधारण जन इन्द्रियों के भोगों को ही सर्वस्व मान बैठता है तो इसमें आश्चर्य क्या है। मुझे अहितकर इन्द्रिय-भोगों को छोड़कर आत्म-हित करना चाहिए।

भगवान के मन में वैराग्य भावना को जानकर सारस्वत आदि आठ प्रकार के लौकान्तिक देवों ने भगवान के विचारों की सराहना की। देवों ने उन्हें पालकी में बैठाकर नगर के बाहर सहेतुक बन में पहुंचाया। वहाँ भगवान ने एक हजार राजाओं के सथ संयम धारण कर लिया। संयम के प्रभाव से उन्हें उसी समय मनःपर्ययज्ञान हो गया। दूसरे दिन वे चर्या के लिए सौमनस नामक नगर में गये। वहां पदम राजा ने पड़गाह कर भगवान को आहार दिया।

केवलज्ञान कल्याणक—

भगवान बीस वर्ष तक मौन रहकर तपस्या करते रहे। तदन्तर उसी सहेतुक वन में प्रियंगु वृक्ष के नीचे उन्होंने दो दिन का उपवास लेकर

योग-निरोध किया। फलत: चैत्र शुक्ला एकादशी के दिन सन्ध्या समय भगवान को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। देवों ने आकर भगवान के ज्ञान कल्याणक की पूजा की।

भगवान का परिवार—

भगवान के अमर आदि ११६ गणधर थे। इनके अतिरिक्त २४00 पूर्वधारी, २५४३५० शिक्षक, ११000 अवधिज्ञानी, १३००० केवलज्ञानी, ८४00 बिक्रिया ऋद्धिधारी, १०४०० मन: पर्ययज्ञानी, १०४५० वादी थे। इस प्रकार कुल मुनियों की संख्या ३२0000 थी। अनन्तमती आदि ३३०००० अर्जिकायें थी। ३००००० श्रावक और ५००००० श्राविकायें उनकी भक्त थी।

मोक्ष कल्याणक—

भगवान ने विभिन्न देशों में विहार करके और उपदेश देकर अनेक जीवों का कल्याण किया। जब उनकी आयु एक माह शेष रह गई, तब वे सम्मेदगिरी पर पहुंचे। उन्होंने विहार करना और उपदेश देना बन्द कर दिया और एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया। और चैत्र शुक्ला एकादशी को मघा नक्षत्र में शाम के समय निर्वाण प्राप्त किया। इन्द्रों और देवों ने आकर उनके निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

यक्ष यक्षिणी—

भगवान सुमतिनाथ के यक्ष का नाम तुंवर और यक्षिणी का नाम पुरुषदत्ता था।

६. भगवान पद्मप्रभ

पूर्व भव—

धातकी खण्ड द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण तट पर वत्स देश था। उसमें सुसीमा नामक एक नगर था। उसके अधिपति महाराज अपराजित थे। उनके राज्य में प्रजा खूब सुखी और समृद्ध थी। उन्होंने बहुत समय तक सांसारिक भोग भोगे। एक दिन उनके मन में विचार आया कि संसार में समस्त पर्याय क्षणभंगुर हैं। सुख पर्यायों द्वारा भोगे जाते हैं। पर्याय नष्ट होने पर वह सुख भी नष्ट हो जाता है। अतः संसार के सम्पूर्ण सुख क्षणभगुर हैं। यह विचार कर उन्होंने अपने पुत्र सुमित्र को राज्य देकर पिहितास्रव जिनेन्द्र के पास जाकर जिन-दीक्षा ले ली। उनके चरणों में उन्होने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, और षोडस कारण भावनाओं का चिन्तन करके तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर लिया। आयु के अन्त में समाधिमरण करके ऊर्ध्वग्रैवेयक के प्रीतिकर विमान में अहमिन्द्र हुए।

गर्भावतरण—

कौशाम्बी नगरी में इक्ष्वाकुवंशी काश्यप गोत्री धरण नामक राजा राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम सुसीमा था। जब उपर्युक्त अहमिन्द्र का जीव उनके गर्भ में आने वाला था, तब उसके पुण्य प्रभाव से गर्भावतरण से छह माह पूर्व से देवों ने महाराज धरण के नगर में रत्न-वृष्टि करना आरम्भ किया जो भगवान के जन्म लेने तक बराबर होती रही। माघ कृष्णा षष्टी के दिन ब्राह्म मुहूर्त में, जब चित्रा नक्षत्र और चन्द्रमा का योग हो रहा था, महारानी ने सोलह स्वप्न देखकर मुख में एक हाथी को प्रवेश करते देखा। पति से स्वप्नों का फल जानकर वह बड़ी हर्षित हुई।

जन्म कल्याणक—

गर्भ-काल पूरा होने पर कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी के दिन त्वष्ट्र योग में लाल कमल की कलिका के समान कान्ति वाले पुत्र को महारानी सुसीमा ने जन्म दिया। पुत्र असाधारण था, लोकोत्तर कान्ति थी, उसका अद्भुत

प्रभाव था। इस पुत्र के उत्पन्न होते ही क्षणभर के लिये तीनों लोकों के जीवों को सुख का अनुभव हुआ था। उसी समय सौधर्म इन्द्र अन्य इन्द्रों और देवों के साथ आया और बाल भगवान को लेकर सुमेरु पर्वत पर पहुंचा। वहां क्षीर सागर के जल से उनका अभिषेक किया और उनका नाम पद्मप्रभ रक्खा। फिर वापस लाकर माता को सौंपकर आनन्दमग्न होकर नृत्य किया। इनका चिन्ह कमल था।

जब उनकी आयु का चतुर्थांश व्यतीत हो गया, तब उन्हें राज्य-शासन प्राप्त हुआ। उनके राज्य में कोई दुखी नहीं था। कोई दरिद्र नहीं था। सब निर्भय और निश्चिन्त थे। सभी लोग सम्पन्न थे।

दीक्षा-कल्याणक—

एक दिन उनके हाथी की मृत्यु हो गई। घटना साधारण थी, किन्तु इस घटना की उनके मन पर जो प्रतिक्रिया हुई, वह भिन्न थी। उन्होंने अवधिज्ञान से हाथी के पिछले भव पर विचार किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित है। किन्तु इस जन्म-मरण की श्रृंखला का अन्त क्यों नहीं होता? प्रत्येक जीव सुख चाहता है। किन्तु मृत्यु के पश्चात् जन्म न हो इसका प्रयत्न विरले ही करते हैं। जो मृत्यु को जीत लेते हैं, उनका पुनः जन्म नहीं होता। मैं अब मृत्युंजय बनने का प्रयत्न करूंगा और अनादिकाल की इस जन्म-मरण की श्रृंखला का उच्छेद करूंगा।

वे ये विचार कर ही रहे थे, तभी लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान की स्तुति की, उनके संकल्प की सराहना की तथा निवेदन किया-प्रभो! ससार के प्राणी अज्ञान और मोह में भटक रहे हैं। अब आपकी तीर्थ प्रवृत्ति का समय आ पहुंचा है। आप उन जीवों को मार्ग दिखलाइये।

भगवान निवृत्त नामक पालकी में आरूढ़ होकर पभौसा गिरि के मनोहर वन में पहुंचे और वहां बेला का नियम लेकर कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी को सन्ध्या समय चित्रा नक्षत्र में दीक्षा ले ली। उनके साथ में एक हजार राजाओं ने भी मुनि-दीक्षा ले ली। भगवान को सयम ग्रहण करते ही मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया।

दूसरे दिन भगवान वर्धमान नगर में चर्या के लिये पहुंचे। वहां राजा सोमदत्त ने उन्हें आहार-दान देकर अक्षय पुण्य उपार्जित किया।

देवों ने भगवान के आहार-दान के उपलक्ष में पंचाश्चर्य किये।

भगवान छह माह तक मौन धारण करके विविध प्रकार के तप करते रहे।

केवलज्ञान कल्याणक—

उन्होंने चैत्र शुक्ला पूर्णमासी के दिन अपराण्ह में चित्रा नक्षत्र में शिरीष वृक्ष के नीचे चार घातिया कर्मों का क्षय कर दिया। तभी उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। इन्द्रों और देवों ने आकर भगवान की पूजा की। कुबेर ने समवसरण की रचना की। भगवान ने पभौसा गिरि पर प्रथम उपदेश देकर तीर्थ प्रवर्तन किया।

भगवान का संघ—

उनके संघ में वज्रचामर आदि ११० गणधर थे। इनके अतिरिक्त २३०० पूर्वधारी, २६६००० शिक्षक, १०००० अवधिज्ञानी, १२००० केवलज्ञानी, १६८०० विक्रिया ऋद्धिधारी, १०३०० मनःपर्यय ज्ञानी, तथा ९६०० श्रेष्ठ वादी थे। इस प्रकार कुल ३२०००० मुनि उनके संघ में थे। मुनियों के अतिरिक्त रात्रिषेणा आदि ४२०००० अर्जिकायें थी। उनके श्रावकों की संख्या ३००००० तथा श्राविकाओं की संख्या ५००००० थी।

निर्वाण कल्याणक—

भगवान बहुत समय तक बिहार करके जीवों को सन्मार्ग का उपदेश देकर उन्हें सन्मार्ग में लगाते रहे। जब आयु में एक माह शेष रह गया, तब भगवान सम्मेद शिखर पहुंचे और उन्होंने योग-निरोध कर प्रतिमा योग धारण कर लिया। अन्त में फाल्गुन कृष्णा चतुर्थी की संध्या को चित्रा नक्षत्र में जन्म-मरण की परम्परा सर्वदा के लिए नष्ट कर दी और वे संसार से मुक्त हो गये। उनके साथ एक हजार मुनि भी मुक्ति पधारे। देवों और इन्द्रों ने आकर निर्वाण महोत्सव मनाया।

यक्ष-यक्षिणी—

भगवान पद्मप्रभ के यक्ष का नाम कुसुम और यक्षिणी का नाम मनोवेगा है।

कौशाम्बी—

कौशाम्बी नगरी का वर्तमान नाम कोसम है। कोसम नामक दो

गांव पास-पास हैं—कौसम इनाम और कोसम खिराज। इस गांव का एक नाम कौशाम्बी गढ़ भी है। यहां एक पुराना किला यमुना के तट पर बना हुआ है जो प्राय. धराशायी होकर खण्हर बन चुका है। किन्तु कहीं-कहीं पर अभी तक दीवालें और बुर्ज बने हुए हैं। इसके अवशेष लगभग चार मील में बिखरे हुए हैं।

कोसम इलाहाबाद से लगभग इकत्तीस मील दूर है। इलाहाबाद से यहा के लिए अकिलसराय होती हुई बस जाती हैं। बस कोसम के रेस्ट हाउस तक जाती हैं। वहाँ से मन्दिर कच्चे मार्ग से लगभग डेढ़ मील है। रेस्ट हाउस के पास एक प्राचीन कुआ है जिसका सम्बन्ध अर्जुन के पौत्र परीक्षित और प्रसिद्ध वैद्य धन्वन्तरि से जोड़ा जाता है।

कौशाम्बी का मन्दिर छोटा ही है। इसमें दो गर्भगृह है, जिनमें दो सर्वतोभद्रिका प्रतिमाये तथा भगवान पद्मप्रभु के चरण चिन्ह विराजमान हैं। मन्दिर के बाहर धर्मशाला बनी हुई है। मन्दिर के चारों ओर प्राचीन नगर के अवशेष बिखरे पड़े है। मन्दिर के पीछे एक पाषाण-स्तम्भ है, जिसे अशोक निर्मित कहा जाता है।

यहां प्रयाग विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग की ओर से कई वर्ष तक खुदाई हुई थी, जिसमें बहुमूल्य पुरातत्व सामग्री मिली है। चार अखण्डित जैन मूर्तिया भी मिली है। यहाँ मृण्मूर्तियां और उनके मनके बहुत बड़ी संख्या में मिले है। यह सब सामग्री प्रयाग संग्रहालय में सुरक्षित है। खुदाई के फलस्वरुप आजीवक सम्प्रदाय का विहार भी निकला है। कहा जाता है, इसमें गोशालक के अनुयायी पाच हजार साधु रहते थे।

कौशाम्बी भारत की प्राचीन नगरियो में मानी जाती है तथा यह वत्स देश की राजधानी थी। यहाँ अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक घटनाये हुई है। भगवान नेमिनाथ ने जब जरत्कुमार के हाथो से नारायण कृष्ण की मृत्यु और द्वैपायन ऋषि के शाप से द्वारका के भस्म होने की भविष्यवाणी की तो दुर्निवार भवितव्य को टालने के लिये जरत्कुमार और द्वैपायन ऋषि दोनो ही द्वारका से दूर चले गये। एक बार बलभद्र बलराम और नारायण कृष्ण भ्रमण करते हुए इसी वन में आये। यहाँ आकर नारायण को प्यास लगी। बलभद्र जल की तलाश में दूर चले गये, नारायण को नीद आ गई और एक वृक्ष के नीचे सो गये। भील का वेष बनाये हुए जरत्कुमार घूमते हुए उधर ही आ निकला। उसने नारायण के चमकते हुऐ अगूठे को दूर से हिरण की आंख समझा। उसने उनको लक्ष्य करके बाण

संधान किया। बाण नारायण के लगा, जिससे उनकी मृत्यु हो गई। जब बलभद्र जल लेकर वहां आये तो उन्हें अपने प्रिय अनुज की यह दशा देखकर भारी सन्ताप हुआ। वे प्रेम में इतने अधीर हो गये कि वे छह माह तक मृत शरीर को कन्धे से लगाये शोक संतप्त होकर घूमते रहे। अन्त में मागीतुंगी पर जाकर देव द्वारा समझाने पर उस देह का संस्कार किया और वहीं दीक्षा लेकर तप करने लगे।

भगवान महावीर के काल में वैशाली गणतन्त्र के अधिपति चेटक की छोटी पुत्री चन्दनबाला अपहृत होकर यहां बिकने आई और वात्सल्य-वश एक धर्मात्मा सेठ ने उसे खरीद लिया। जब सेठ व्यापार के कार्य से बाहर गये हुए थे, तब सेठानी ने सापत्न्य के झूठे संदेह में पड़कर चन्दना को जंजीरों से बांध दिया, उसके बाल काट दिये और खाने को सूप में बाकले दे दिये। तभी भगवान महावीर आहार के निमित्त उधर पधारे और चन्दना ने भक्तिवश वे ही बाकले भगवान को आहार में दिये। तीर्थं-कर के पुण्य प्रभाव से चन्दना के बन्धन कट गये। देवताओं ने रत्न-वर्षा की। भगवान आहार लेकर चले गये। कुछ समय पश्चात् चन्दना ने भगवान महावीर के पास दीक्षा ले ली। और उनके आर्यिका संघ की मुख्य गणिनी बनी।

इसी काल में कौशाम्बी पर उदयन शासन कर रहा था, जो अर्जुन की अठारहवीं पीढी में कहलाता है उदयन के कई विवाह हुए। उज्जयिनी नरेश चण्ड प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता के साथ उसका प्रेम-विवाह हुआ, जिसको लेकर संस्कृत भाषा में अनेक काव्यो की रचना हुई है। उदयन जितना वीर था, उतना कला–मर्मज्ञ भी था। वह अपनी मंजुघोषा वीणा पर जब उंगली चलाता था तो उसकी ध्वनि पर पशु–पक्षी तक खिंचे चले आते थे। वह महावीर भगवान का भक्त था और अन्त में जैन विधि से उसने सन्यास मरण किया।

उसके काल में कौशाम्बी धन धान्य से अत्यन्त समृद्ध था और व्या-पारिक केन्द्र था। जल और स्थल मार्गों द्वारा इसका व्यापार सुदूर देशों से होता था। इतिहासकार इस काल की कौशाम्बी को भारत का मांचेस्टर कहते हैं।

काल ने इस समृद्ध नगरी को एक दिन खण्डहर बना दिया।

पभोसा—

पभोसा का दूसरा नाम प्रभासगिरी भी था। प्राचीन काल में यह

कौशाम्बी नगरी का बन था। इसी में भगवान पद्मप्रभु ने दीक्षा ली थी और इसी बन में उन्हें केवल-ज्ञान हुआ था। यह जमुना के किनारे अवस्थित है। यह एक छोटी सी पहाड़ी है। यह कौशाम्बी से जमुना के रास्ते छह मील दूर है। यहां जाने के लिये कोसम से नाव मिलती हैं।

प्रचीन काल में यह जैन धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। यहां प्राचीन जैन मन्दिर पहाड़ी के ऊपर था। कहते हैं, उसके सामने एक मान स्तम्भ भी था। वहीं भट्टारक ललित कीर्ति की गद्दी थी। पहाडी की तलहटी में कई दिगम्बर जैन मन्दिर थे। कहते हैं संवत् १८२५ में बिजली गिर जाने से मन्दिर आदि को काफी क्षति हुई थी। फिर भट्टारक वाले स्थान पर संवत् १८८१ में पंच कल्याणक प्रतिष्ठापूर्वक पद्मप्रभ की प्रतिमा विराजमान की गई। इस सम्बन्ध में जो शिलालेख मिलता है, उसका आशय निम्न प्रकार है—

संवत् १८८१ मिति मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमी शुक्रवार को भट्टारक श्री जगतकीर्ति उनके पट्टधर भट्टारक श्री ललितकीर्ति जी उनके आम्नाय में गोयल गोत्री प्रयाग नगरवासी साधु श्री रावजीमल के लघुभ्राता फेरुमल उनके पुत्र साधु श्री माणिकचन्द्र उनके पुत्र साधु श्री हीरामल ने कौशाम्बी नगर के बाहर प्रभास पर्वत पर जो पद्मप्रभ भगवान का दीक्षा कल्याणक क्षेत्र है, जिन बिम्ब प्रतिष्ठा कराई – अंग्रेज बहादुर के राज्य में।

किन्तु इसके बाद फिर यहां एक भयानक दुर्घटना हो गई। वीर संवत् २४५७ भाद्रपद कृष्णा ८ को रात्रि में इस मन्दिर पर पहाड के तीन बजनी टुकड़े गिर पड़े। इससे मन्दिर और मानस्तम्भ दोनों नष्ट हो गये और जो भवन यहां पर थे, वे भी नष्ट हो गये। किन्तु इसे एक चमत्कार ही कहना चाहिए कि प्रतिमायें सुरक्षित रहीं।

अब पहाड़ पर एक कमरे में प्रतिमायें विराजमान हैं तथा पहाड़ तलहटी में एक कम्पाउण्ड के भीतर धर्मशाला (जीर्ण शीर्ण दशा में) तथा कुआ है। धर्मशाला के उपर एक छोटा मन्दिर है, जिसमें प्राचीन प्रतिमायें है। धर्मशाला के एक कमरे में इधर उधर खेतों आदि में मिली कुछ प्राचीन खण्डित अखण्डित प्रतिमायें रक्खी हुई हैं।

पहाड़ के ऊपर-मन्दिर से काफी ऊंचाई पर, एक शिला में चार खड्गासन प्रतिमाये उकेरी हुई हैं जो सिद्धप्रतिमा कही जाती हैं। बाई ओर ऊपर को देखने पर एक गुफा दिखाई पड़ती है। प्राचीन काल में यह गुफा

दिगम्बर जैन साधुओं के ध्यान और तपस्या के काम में आती थी। इस गुफा में शिलालेख भी उपलब्ध हुए हैं। इसके अतिरिक्त यहां आयागपट्ट भी मिला था जो अभिलिखित है। अभिलेख के अनुसार राजा शिवमित्र के १२वें संवत् में शिवनन्दि की स्त्री शिष्या स्थविरा बलदासा के कहने से शिवपालित ने अर्हन्तों की पूजा के लिए यह आयागपट्ट[1] स्थापित किया।

गुफा के बाहर जो लेख पढ़ा गया है, उसका आशय यह है

'काश्यपी अर्हन्तों के संवत्सर १० में आषाढ़सेन ने यह गुफा बनवाई, यह गोपाली और वैहिदरी का पुत्र था व गोपाली के पुत्र बहसतिमित्र राजा का मामा था। यह काश्यप गोत्र महावीर स्वामी का था।

गुफा के भीतर भी एक अभिलेख है, जिसका भाव इस प्रकार है—

'अहिच्छत्रा के राजा शौनकायन के पुत्र वंगपाल, उसकी रानी त्रिवेणी, उसके पुत्र भागवत, उसकी स्त्री वैहिदरी, उसके पुत्र अषाढ़सेन ने बनवाई।

उपर्युक्त अषाढ़सेन ई० सन् के प्रारम्भ में उत्तर पांचाल का राजा था। उक्त लेख में अषाढ़सेन को वहसतिमित्र (बृहस्पतिमित्र) का मामा वतलाया है।

यहाँ शुंग काल में स्थापत्य और मूर्तिकला की बड़ी उन्नति हुई थी। जिन शुंगकालीन शासकों के सिक्के इस प्रदेश में मिले हैं, उनके नाम अग्निमित्र, भानुमित्र, भद्रघोष, जेठमित्र, भूमिमित्र आदि हैं।

शुंगों के बाद यहां मघवंशीय स्थानीय शासकों का अधिकार रहा। राजाओं के लेख और सिक्के यहाँ बड़ी सख्या में उपलब्ध हुए हैं।

शुंगवंश की प्रधान शाखा का अन्त ई० पू० १०० के लगभग हो गया। किन्तु उसकी अन्य कई शाखायें शासन करती रहीं। उनके केन्द्र थे अहिच्छत्रा, विदिशा, मथुरा, अयोध्या और पभौसा।

मथुरा में अनेक मित्रवंशीय राजाओं के अनेक सिक्के मिले हैं, जैसे गोमित्र, ब्रह्ममित्र, दृढ़मित्र, सूर्यमित्र, विष्णुमित्र।

★

---

१. सिद्धम् राज्ञो शिवमित्रस्य सवच्छरे १०—२ थम
थविरस बलदास स निवर्तनन सा ए शिवनन्दिस अतेवासिस
शिवपालितन आयागपट्टो थापयति अरहत पूजायै

५. भगवान सुपार्श्वनाथ

पूर्व भव—

धातकी खण्ड द्वीप में सीता नदी के उत्तर तट पर सुकच्छ नाम का देश था। उसके क्षेमपुर नगर में नन्दिषेण नामक राजा राज्य करता था। वह बड़ा नीतिनिपुण, प्रतापी और न्यायवान राजा था। जब भोग भोगते हुए उसे बहुत समय बीत गया तो एक दिन वह भोगों से विरक्त हो गया। उसने अपने पुत्र धनपति को राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित करके अनेक राजाओं के साथ अर्हन्नन्दन मुनि से दीक्षा ले ली। फिर ग्यारह अंग का धारी होकर दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं द्वारा तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध किया और आयु के अन्त में सन्यास मरण कर मध्यम ग्रैवेयक के सुभद्र विमान में अहमिन्द्र हुआ।

गर्भ कल्याणक—

काशी देश में वाराणसी नामक एक नगरी थी। उसमें सुप्रतिष्ठ महाराज राज्य करते थे। वे इक्ष्वाकुवंशी थे। उनकी महारानी पृथ्वीषेणा थी। उनके आगन में देवों ने गर्भावतरण से पूर्व छह माह तक रत्नवर्षा की महारानी ने भाद्रपद शुक्ला षष्ठी को विशाखा नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह शुभ स्वप्न देखे। उसके बाद उन्होंने मुख में एक हाथी को प्रवेश करते हुए देखा। उसी समय वह अहमिन्द्र अपनी आयु पूर्ण कर महारानी के गर्भ में आया। पति मुख के से स्वप्नो का फल जानकर रानी बड़ी हर्षित हुई। देवों ने गर्भावस्था के पूरे समय उनके आंगन में रत्न वृष्टि की और भगवान का गर्भ कल्याणक मनाया।

जन्म कल्याणक—

ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी के दिन अग्निमित्र नामक शुभयोग में महारानी ने तीनों लोकों के गुरु महान् पुत्र को जन्म दिया। इन्द्रों और देवों ने सुमेरु पर्वत के शिखर पर उनका जन्माभिषेक किया, सबने भगवान के चरणों में अपने मस्तक झुकाये और उनका नाम सौधर्मेन्द्र ने 'सुपार्श्व' रक्खा। उनका चिन्ह स्वस्तिक था। शरीर का वर्ण हरित था।

जब कुमार काल व्यतीत हो गया तो पिता ने उनका राज्याभिषेक

कर दिया। इन्द्र उनके मनोरंजन के लिये नाना प्रकार के उपाय करता था। उन्हें सभी प्रकार का सुख प्राप्त था। सुख के साधन तो सभी थे, किन्तु तीर्थंकरों को आठ वर्ष की आयु में देश संयम हो जाता है। इसलिए भगवान की वृत्ति संयमित थी। उनके तीन ज्ञान थे।

दीक्षा कल्याणक—

एक दिन भगवान को ऋतु-परिवर्तत देखकर मन में विचार उठा—ससार की यही दशा है। सब क्षण-स्थाई है। राजलक्ष्मी भी इसी प्रकार एक दिन नष्ट हो जाने वाली है मै अब तक व्यर्थ ही इनके मोह में अटका रहा। मैंने आत्म-कल्याण में व्यर्थ ही विलम्ब किया। लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान की स्तुति की। भगवान अपने पुत्र को राज्य सौंपकर देवों द्वारा उठाई हुई मनोगनि नामक पालकी में चढ़ कर सहेतुक वन में जा पहुंचे और वहां ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी को सन्ध्या समय विशाखा नक्षत्र में बेला का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ सयम ग्रहण कर लिया। उसी समय उन्हे मन·पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया।

दूसरे दिन चर्या के लिए वे सोमखेट नगर में पहुचे। वहाँ महेन्द्रदत्त राजा ने आहार देकर महान पुण्य-लाभ किया।

केवलज्ञान कल्याणक—

भगवान नौ वर्प तक तप करते रहे। तदन्तर उसी सहेतुक वन में दो दिन के उपवास का नियम लेकर शिरीष वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ हो गये और फाल्गुन शुक्ला सप्तमी को विशाखा नक्षत्र में उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। देवो और इन्द्रो ने आकर भगवान के केवलज्ञान की पूजा की। वही पर समवशरण में भगवान की प्रथम देशना हुई।

भगवान का परिकर—

उनके बल आदि ६५ गणधर, मीनार्या आदि ३३०४०० अर्जिकायें, २०३० पूर्वज्ञान के धारी, २४४९२० शिक्षक, ९००० अवधिज्ञानी, ११०० केवलज्ञानी, १५३०० विक्रिया ऋद्धिके धारक, ९१५० मन: पर्ययज्ञान के धारी और ८६०० वादी थे। कुल ३००००० श्रावक और ५००००० श्राविकायें थीं।

निर्वाण कल्याणक—

भगवान बहुत काल तक पृथ्वी पर विहार करके भव्य जीवों को कल्याण-मार्ग का उपदेश देते रहे। जब उनकी आयु में एक माह शेष रह गया, तब वे सम्मेद शिखर पर पहुंचे। उन्होंने प्रतिमा-योग धारण कर किया और फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को विशाखा नक्षत्र में एक हजार मुनियों के साथ निर्वाण प्राप्त किया। देवों ने भगवान का निर्वाण कल्याणक मनाया।

यक्ष-यक्षिणी—

भगवान के सेवक यक्ष का नाम परनन्दी और यक्षिणी का नाम काली है।

सुपार्श्वनाथ कालीन स्तूप—

मथुरा के कंकोली टीले पर एक स्तूप के ध्वंसावशेष प्राप्त हुए हैं। आचार्य जिनप्रभसूरि ने इस स्तूप के सम्बन्ध में 'विविध तीर्थकल्प' में लिखा है कि स्तूप को कुवेरा देवी ने सुपार्श्वनाथ के काल में सोने का बनाया था और उस पर सुपार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित की थी। फिर पार्श्वनाथ के काल में इसे ईटों से ढक दिया। आठवीं शताब्दी में वप्पभट्ट सूरि ने इसका जीर्णोद्धार किया था किन्तु सोमदेव सूरि ने 'यशस्तिलक चम्पू ६।१७-१८ में एवं हरिषेण कथाकोष में वज्र कुमार की कथा के अन्तर्गत इस स्तूप को वज्रकुमार के निमित्त विद्याधरो द्वारा निर्मित बताया है। आचार्य सोमदेव ने तो स्तूप के दर्शन भी किये थे और उसे 'देवनिर्मित लिखा है। इस स्तूप का जीर्णोद्धार साहू टोडर ने भी किया था, इस प्रकार की सूचना कवि राजमल्ल ने 'जम्मूस्वामी चरित्र' में दी है। उन्होंने भी इस स्तूप के दर्शन किये थे। उस समय वहाँ पांच सौ चौदह स्तूप थे।

कुषाणकाल का (सन् ७६) का एक आयागपट्ट मिला है, उसमें भी इस स्तूप को देव निर्मित लिखा है। सरविसेण्ट स्मिथ ने इसे भारत की ज्ञात इमारतों में सर्व प्राचीन लिखा है।

इस साक्ष्य से यह प्रगट होता है कि ईस्वी सन् से हजारों वर्ष पूर्व भगवान सुपार्श्वनाथ की मान्यता जनता में प्रचलित हो चुकी थी और जनता उन्हें अपना आराध्य देव मानती थी।

सुपार्श्वनाथ की मूर्तियां और सर्प-फन-मण्डल—

सुपार्श्वनाथ इक्ष्वाकुवंशी थे। किन्तु उनकी मूर्तियों के ऊपर सर्प-

फण-मण्डल मिलता है। पार्श्वनाथ की सर्पफणावलीयुक्त मूर्तियों से सुपार्श्व-नाथ की मूर्तियों में भिन्नता प्रकट करने के लिये सुपार्श्वनाथ के ऊपर पंच फणावली बनाई जाती है और पार्श्वनाथ के ऊपर सात फणावली। किसी-किसी मूर्ति में पार्श्वनाथ के ऊपर नौ और ग्यारह फणावली भी मिलती हैं। कुछ मूर्तियाँ सहस्र फणावली वाली भी उपलब्ध होती हैं। पार्श्वनाथ के ऊपर सर्प-फण-मण्डल का तो एक तर्कसंगत कारण रहा है। वह है संगम देव द्वारा उपसर्ग करने पर धरणेन्द्र द्वारा भगवान के ऊपर सर्प-फण का छत्र लगाना। इसके अतिरिक्त उनका चिन्ह भी सर्प है। किन्तु सुपार्श्वनाथ के ऊपर मण्डल किस कारण से बनाया जाता है, इसका कारण खोजने की आवश्यकता है। दिगम्बर शास्त्रों में इस बात का कोई युक्तियुक्त कारण हमारे देखने में नहीं आया। हाँ, श्वेताम्बर परम्परामान्य आचार्य हेमचन्द्र द्वारा विरचित 'त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित में लिखा है कि जब भगवान सुपार्श्व को केवलज्ञान हो गया और जब इन्द्र द्वारा बिरचित समवसरण में वे सिंहासन पर विराजे, तब इन्द्र ने उनके मस्तक पर सर्प-फण का छत्र लगाया था। आचार्य ने इस प्रकार करने का कोई कारण तो नही दिया। संभव है, इन्द्र ने जो छत्र लगाया था, उसका आकार सर्प-फण-मण्डल जैसा रहा हो।

इस सम्बन्ध में हमारी विनम्र मान्यता है कि सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ दोनों ही वाराणसी में उत्पन्न हुए थे। पार्श्वनाथ का प्रभाव अपने काल में पूर्व और पूर्वोत्तर भारत में अत्यधिक था। यही कारण है कि उनकी मूर्तियां अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा अधिक मिलती हैं। उनके इस प्रभाव के कारण और दोनों का नाम प्रायः समान होने के कारण पार्श्व-नाथ-मूर्तियों की अनुकृति पर सुपार्श्वनाथ की भी मूर्तियां बनने लगीं और उनके ऊपर भी सर्प-फण बनाये जाने लगे। इसके सिवाय दूसरा कोई युक्तियुक्त उत्तर बन नहीं सकता।

स्वस्तिक—

भगवान सुपार्श्वनाथ की लोक प्रसिद्धि के कारण स्वस्तिक का मंगल चिन्ह भी लोकविश्रुत हो गया। अतः स्वस्तिक को लोक-प्रचलन इतिहा-सातीत काल से रहा है। मोहन जोदड़ों, लायल, रोपड़ आदि के प्राचीनतम पुरातत्त्व में कई मुद्राओं में स्वस्तिक अंकित पाया गया है। एक मुद्रा मोहन जोदड़ों में ऐसी भी उपलब्ध हुई है, जिसमें स्वस्तिक अंकित है और उसके आगे एक हाथी नतमस्तक खड़ा है। भारतीय पुरातत्त्ववेत्ता अभी तक इस

प्रतीक का रहस्योद्घाटन करने में असमर्थ रहे हैं। किन्तु जैन प्रकती-योजना के छात्र को इसके समाधान में कुछ भी कठिनाई नहीं होगी। प्रतीकात्मक रूप से स्वस्तिक सुपार्श्वनाथ का चिन्ह है और हाथी उनके यक्ष मातंग[1] के वाहन का द्योतक है। सुपार्श्वनाथ की द्योतक एक मुद्रा और मिली है। एक दिगम्बर योगी पद्मासन मुद्रा में विराजमान है। उसके दोनों और दो सर्प बने हुए हैं और दो व्यक्ति भक्ति में वीणा-वादन कर रहे हैं। निश्चय ही यह योगी सुपार्श्वनाथ हैं और सर्प उनके चिन्ह हैं।

खण्डगिरि-उदयगिरि की रानी गुफा में स्वस्तिक का चिन्ह है। यह गुफा ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी की है। एक गुफा में सर्प का चिन्ह अंकित है। मथुरा के कंकाली टीला से प्राप्त कुषाणकालीन आयागपट्ट में भी स्वस्तिक या नन्द्यावर्त बना हुआ है। कौशाम्बी, राजगृह, श्रावस्ती आदि में ऐसे शिलापट्ट मिले हैं जिन पर स्वस्तिक और सर्प बने हुए हैं। जैन मन्दिरों में सर्वत्र स्वस्तिक मंगल चिन्ह के रुप में सदा से प्रयुक्त होता आया है। जैनों की पूजा विधि में स्वस्तिक एक आवश्यक अंग है। विधान प्रतिष्ठा, मंगल कार्यों आदि में स्वस्तिक की अनिवार्यता को स्वीकार किया गया है।

स्वस्तिक में बड़ा रहस्य निहित है। यह चतुर्गति रूप संसार का द्योतक है। इसके ऊपर तीन विन्दु रत्नत्रय के और अधचन्द्र रत्नत्रय द्वारा प्राप्त मुक्ति (सिद्धशिला) का प्रतीक है।

धीरे-धीरे स्वस्तिक की ख्याति से प्रभावित होकर संसार की सभी सभ्यताओं और अधिकांश धर्मों ने इसे अपना लिया।

वाराणसी—

काशी देश में वाराणसी नगरी थी। काशी जनपद की यह राजधानी थी। यहां के वर्तमान भदैनी घाट को भगवान सुपार्श्वनाथ का जन्म-स्थान माना जाता है। स्याद्वाद विद्यालय के ऊपर मन्दिर बना हुआ है। कहते हैं, भगवान का जन्म-कल्याणक यहीं हुआ था। कुछ लोग मानते हैं कि छेदी-लाल जी का जैन मन्दिर जो—इस मन्दिर के निकट है—भगवान का वास्त विक जन्म-स्थान है। यहां भगवान के प्राचीन चरण-चिन्ह भी हैं।

काशी में अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक घटनायें हैं। कर्म युग

---

१. मेरुविजय गणिकृत चतुर्विंशति जिन-स्तुति

के प्रारम्भ में महाराज अकंपन यहां के राजा थे। उन्होंने अपनी पुत्री सुलोचना का स्वयंवर यहीं किया था। यह कर्मभूमि का प्रथम स्वयंवर था।

भगवान पार्श्वनाथ का जन्म यहीं हुआ था और उन्होंने यहीं पर कमठ तपस्वी के अविवेकपूर्ण तप की निस्सारता बताते हुए जलते हुए सर्प-युगल को णमोकार मंत्र सुनाया था, जिसके प्रभाव से वे नागकुमार जाति के इन्द्र-इन्द्राणी धरणेन्द्र और पद्मावती बने थे और यहीं भगवान पार्श्व-नाथ का उपदेश सुनकर अश्वसेन और वामा देवी ने दीक्षा ली थी।

कुछ विद्वानों का अभिमत है कि स्वामी समन्तभद्र भस्मक व्याधि के काल में यहां के शिवालय में रहे थे और जब उनके छद्म रूप का रहस्य फूट गया, तब राजा के द्वारा वाध्य किये जाने पर उन्होंने शिवपिण्डी के समक्ष जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा की कल्पना करके स्वयम्भू स्तोत्र का पाठ करना आरम्भ किया और जब वे चन्द्रप्रभ की स्तुति करने लगे, तभी शिवपिण्डी फटकर उसके वीच में से भगवान चन्द्रप्रभ की दिव्य मूर्ति प्रगट हुई। उन्होने उसे नमस्कार किया। इस घटना की सत्यता बताने वाला फटे महादेव का मन्दिर अब तक विद्यमान है। कुछ वर्ष पूर्व तक इस मन्दिर का नाम समन्तभद्रेश्वर मंदिर था। यह पहले बहुत बड़ा मन्दिर था। किन्तु जब यहां से सड़क निकली, तब सड़क मार्ग में बाधक इसका वहुत सा भाग गिरा दिया गया था।

इस प्रकार यहां अनेक महत्त्वपूर्ण घटनायें घटित हुई हैं।

काशी में नाग पूजा—

भगवान सुपार्श्वनाथ के नाग चिन्ह का प्रभाव यहां व्यापक रूप से पड़ा और जनता-पूजा करने लगी। यहाँ यक्ष-पूजा का भी बहुत प्रचलन रहा है। लगता है, इन दोनों पूजाओं का सम्बन्ध सुपार्श्वनाथ से था।

पुरातत्त्व—

यहां राजघाट से उत्खनन में महत्त्वपूर्ण पुरातत्त्व सामग्री मिली है, जिसमें कुषाण और गुप्त युग की अनेक जैन मूर्तियां भी हैं जो यहाँ के भारत कला भवन में सुरक्षित हैं।

★

८. भगवान चन्द्रप्रभ

पूर्व भव—

भगवान चन्द्रप्रभ का जीव एक जन्म में श्रीपुर के राजा श्रीषेण और रानी श्रीकान्ता का पुत्र श्रीवर्मा हुआ। एक दिन उल्कापात देखकर उसे भोगों से विरक्ति हो गई और उसने श्रीप्रभ जिनेन्द्र के निकट मुनि-दीक्षा ले ली। आयु पूरी होने पर प्रथम स्वर्ग में देव हुआ। उस देव का जीव आयु समाप्त होने पर धातकी खण्ड की अयोध्या के राजा अजितजय और अजितसेना का अजितसेन नामक पुत्र हुआ। राज्य प्राप्त होने पर उसकी आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। उसने दिग्विजय करके चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। यद्यपि पुण्योदय से भोग की सम्पूर्ण सामग्री उसके निकट थी किन्तु उसकी भोगों में तनिक भी आसक्ति नहीं थी। वह बड़ा न्यायपरायण और धर्मनिष्ठ था। लोग उसे राजर्षि कहते थे। पुण्य कर्म के उदय से उसे चौदह रत्न और नौ निधियां प्राप्त थीं। भाजन, भोजन, शय्या, सेना, सवारी, आसन, निधि रत्न, नगर और नाट्य इन दशविध भोगों का भोग करता था। एक दिन चक्रवर्ती ने अरिन्दम नामक मुनि को आहार-दान किया। फलस्वरूप रत्न-वर्षा आदि पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये। दूसरे दिन वह गुणप्रभ जिनेन्द्र की वन्दना करने गया और उनका उपदेश सुनकर बहुत से राजाओ के साथ सयम धारण कर लिया। अन्त में समाधिमरण करके वह सोलहवें स्वर्ग में अच्युतेन्द्र हुआ।

आयु पूर्ण होने पर अच्युतेन्द्र धातकी खण्ड के रत्नसंचयपुर के नरेश कनकप्रभ और उसकी रानी कनक माला का पद्मनाभ नामक पुत्र हुआ। यौवन अवस्था में राज्य प्राप्त कर सुखपूर्वक रहने लगा। फिर एक दिन उसे वैराग्य हो गया और दीक्षा ले ली। वह मुनि अवस्था में चारो आराधनाओ का आराधन करने लगा। उसने ग्यारह अगों का पारगामी बनकर सोलह कारण भावनाओं का चिंतन किया और तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध किया। वह नाना प्रकार के तपों द्वारा कर्मों का क्षय करता रहा। अन्त में समाधिमरण करके वह वैजयन्त नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुआ। तेतीस सागर की आयु उसने प्राप्त की।

गर्भ कल्याणक—

भरतक्षेत्र में चन्द्रपुर नामक नगर के अधिपति इक्ष्वाकुवंशी काश्यप

गोत्री महासेन राजा थे। उनकी रानी का नाम लक्ष्मणा था। उनके प्रासाद के प्रांगण में छह माह तक देवों ने रत्न-वर्षा की। श्री ह्री आदि देवियाँ महारानी की सेवा करती थीं। देवोपनीत वस्त्र, माला, लेप तथा शय्या आदि सुखों का भोग करती थी। उन्होंने चैत्र कृष्णा पंचमी को पिछली रात्रि में सोलह स्वप्न देखे। प्रातः काल होने पर उन्होंने वस्त्राभरण धारण किये और सिंहासन पर आसीन अपने पति के निकट जाकर उन्होंने उनसे अपने स्वप्नों की चर्चा की। महाराज ने अवधिज्ञान से स्वप्नों का फल जानकर रानी से कहा—देवी! तुम्हारे गर्भ में तीर्थंकर प्रभु पधारे हैं। फल सुनकर रानी अत्यन्त हर्षित हुई। देवों ने गर्भ के नौ माह तक रत्न-वर्षा की। श्री, ह्री, धृति, कीर्ति बुद्धि और लक्ष्मी देवियां उनकी कान्ति लज्जा धैर्य, कीर्ति, बुद्धि और सौभाग्य सम्पत्ति को सदा बढ़ाती रहती थीं तथा माता का मनोरंजन नाना प्रकार से किया करती थी।

जन्म कल्याणक—

गर्भ-काल व्यतीत होने पर रानी ने पौष कृष्णा एकादशी को शक्र योग में देवपूजित, अलौकिक प्रभा के धारक पुत्र को जन्म दिया। उसी समय इन्द्र और देव आये। सौधर्मेन्द्र ने अपनी शची के द्वारा बाल प्रभू को मंगाकर, सुमेरु पर्वत पर लेजाकर क्षीर सागर के जल से उनका अभिषेक किया। उन्हें दिव्य वस्त्रालंकारों से विभूषित किया, तीन लोक के राज्य की कण्ठी बांधी और उनकी रूप छटा को हजार नेत्र बना कर विमुग्ध भाव से उन्हें निहारता रहा। उनके उत्पन्न होते ही कुवलय समूह विकसित हो गया था। अतः इन्द्र ने उनका नाम 'चन्द्रप्रभ रक्खा। फिर इन्द्र ने भगवान के समक्ष आनन्द नामक भक्तिपूर्ण नाटक और नृत्य किया। फिर लाकर उन्हें माता-पिता को सौंपकर कुबेर को आज्ञा दी—तुम भोगोपभोग की योग्य वस्तुओं के द्वारा भगवान की सेवा करो' और फिर वह देवों के साथ स्वर्ग को चला गया। भगवान का लांछन चन्द्रमा है।

भगवान ज्यों-ज्यों बढ़ने लगे, उनका रूप, कान्ति, लावण्य सभी कुछ बढ़ने लगे, वे प्रियदर्शन थे। लोग उनके दर्शनों के लिए व्याकुल रहते थे और दर्शन मिलने पर उन्हें अपूर्व तृप्ति अनुभव होती थी।

कुमार अवस्था बीतने पर उनके पिता ने राज्याभिषेक कर दिया। उनकी स्त्रियां उनकी आज्ञानुवर्ती थीं, समस्त राजा उनके वशवर्ती थे और भृत्यगण, पुरजन और परिजन उनके संकेतानुवर्ती थे।

भगवान को स्वयं स्फूर्त प्रेरणा—

साम्राज्य–सम्पदा का भोग करते हुए जब उन्हें काफी समय हो गया, तब एक दिन वे अपने शृंगार-कोष्ठक में दर्पण में अपना मुख देख रहे थे। उन्हें अन्तःस्फुरणा हुई—एक दिन था जब यह मुख मधुर कान्ति से उमगता था। वे कौमार्य के दिन थे। उन दिनों कितना भोलापन था इसके ऊपर। कौमार्य बीता, किशोरावस्था आई, कान्ति और ओज फूटे पड़ते थे। यौवन आया तो संसार के भोगों की ओर आकर्षण संग में लाया। अब आयु निरन्तर छीजती जा रही है। आयु का चतुर्थ पाद आ गया है, तीन पाद बीत चुके हैं। आयु का इतना लम्बा काल मैंने केवल सांसारिकता में ही खो दिये। अपना हित नहीं किया। अब तक मैंने संसार की सम्पदा का भोग किया, किन्तु अब मुझे आत्मिक सम्पदा का भोग करना है। संसार का यह रुप, यह सम्पदा क्षणिक है, अस्थिर है। किन्तु आत्मा का रुप अलौकिक है, आत्मा की संपदा अनन्त अक्षय है। मैं अब इसी का पुरुषार्थ जगाऊंगा।

दीक्षा-कल्याणक—

इस प्रकार जब चन्द्रप्रभ अपने आत्मा को जाग्रत कर रहे थे, तभी लौकान्तिक देव आये और भगवान की स्तुति करते हुए उनके विचारों की सराहना की। भगवान अपने पुत्र वरचन्द्र को राज्य–भार सौंप कर देवों द्वारा लाई हुई विमला नामक पालकी में नगर के बाहर सर्वर्तुक बन में पधारे। वहां उन्होंने दो दिन के उपवास का नियम लेकर पौष कृष्णा एकादशी के दिन अनुराधा नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ जैनेन्द्री दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा लेते ही उन्हें मन पर्ययज्ञान हो गया। दो दिन बाद वे नलिन नामक नगर में आहार के निमित्त पधारे। वहां सोमदत्त राजा ने उन्हें नवधा भक्तिपूर्वक आहार-दान दिया। इससे प्रभावित होकर देवों ने रत्नवृष्टि आदि पंचाश्चर्य किये।

केवलज्ञान कल्याणक—

भगवान मुनिजनोचित पंच महाव्रत, पंच समिति, पंचेन्द्रिय निग्रह दशधर्म आदि में सावधान रहते हुए कर्म शत्रुओं से युद्ध करने में संलग्न रहने लगे। उन्हें घातिया कर्मों को निर्मूल करने में तीन माह लग गये। अन्त में दीक्षा बन में नाग वृक्ष के नीचे वेला का नियम लेकर प्रभु ध्यान-लीन हो गये और फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को सायंकाल अनुराधा नक्षत्र में

वे अध करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण रूप तीन परिणामों के संयोग से क्षपक श्रेणी पर आरोहण करके प्रथम शुक्ल ध्यान के बल से मोहनीय कर्म का नाश करने में सफल हो गये। फिर बारहवें गुणस्थान के अन्त में द्वितीय शुक्ल ध्यान के प्रभाव से शेष तीन घातिया कर्मों का भी क्षय कर दिया। जीव के उपयोग गुण का घात करने वाले घातिया कर्मों का नाश होते ही वे संयोग केवली हो गये। उनकी आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य से सम्पन्न हो गई। उन्हें परमावगढ़ समयग-दर्शन, यथाख्यात चारित्र, क्षायिक ज्ञान आदि पांच लब्धियों की उपलब्धि हो गई। अब वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन गए।

इन्द्रों और देवों ने आकर भगवान के केवलज्ञान की पूजा की। उन्होंने समवसरण की रचना की और उसमें भगवान की प्रथम दिव्यध्वनि खिरी। भगवान के धर्म-चक्र का प्रवर्तन हुआ।

भगवान का परिवार—

उनके दत्त आदि तिरानवे गणधर थे। दो हजार पूर्वधारी थे। आठ हजार अवधिज्ञानी, दो लाख चार सौ शिक्षक, दस हजार केवलज्ञानी, चौदह हजार विक्रिया ऋद्धिधारी, आठ हजार मनःपर्यय ज्ञानी और चार हजार छह सौ वादी थे। इस प्रकार सब मुनियों की संख्या ढाई लाख थी। वरुणा आदि तीन लाख अस्सी हजार अर्जिकायें थी। तीन लाख श्रावक और पांच लाख श्राविकायें थी।

मोक्ष कल्याणक—

भगवान चन्द्रप्रभ समस्त देशों में विहार करते हुए सम्मेद शिखर पर पहुंचे और वहां एक हजार मुनियों के साथ एक माह तक प्रतिमा योग धारण करके आरूढ़ हो गये। अन्त में फाल्गुन कृष्णा सप्तमी के दिन ज्येष्ठा नक्षत्र में सायंकाल के समय योग निरोध कर समस्त अघातिया कर्मों का नाश करके परम पद निर्वाण को प्राप्त हुए। उसी समय देवों ने आकर भगवान का निर्वाण कल्याणक मनाया।

यक्ष-यक्षिणी—

भगवान चन्द्रप्रभ के सेवक विजय यक्ष और ज्वालामालिनी यक्षिणी थे।

चन्द्रपुरी—

भगवान चन्द्रप्रभ की जन्मनगरी चन्द्रपुरी है जो वाराणसी से आगे कादीपुर स्टेशन से ५ किलोमीटर दूर गंगा के तट पर अवस्थित है। टैक्सी और मोटर के द्वारा वाराणसी से गोरखपुर रोड पर २४ किलोमीटर है। *मुख्य सड़क से २ किलोमीटर कच्चा मार्ग है। यह सिंहपुरी (सारनाथ)* से १७ किलोमीटर है। इस गांव का वर्तमान नाम चन्द्रावती है।

यहां दिगम्बर जैनों का जो प्राचीन मन्दिर था, उस पर श्वेताम्बरों ने अधिकार कर लिया था। तब आरा निवासी लाला प्रभुदास ने गंगा के किनारे सन् १९१३ में नवीन मन्दिर का निर्माण कराया तथा मूर्तियों की पंच कल्याणक प्रतिष्ठा बा० देवकुमार जी ने कराई। मन्दिर में भगवान चन्द्रप्रभ की श्वेत वर्ण १४ इंच अवगाहना वाली प्रतिमा विराजमान है। इसके आगे पार्श्वनाथ की श्याम वर्ण प्रतिमा विराजमान है। मन्दिर दूसरी मंजिल पर है। मन्दिर के चारो ओर धर्मशाला बनी हुई है।

यहां चैत्र कृष्णा पंचमी को वार्षिक मेला भरता है।

६. भगवान पुष्पदन्त

पूर्व भव—

पुष्करार्ध द्वीप, पूर्व विदेह क्षेत्र, सीता नदी, उसके उत्तरी तट पर पुष्कलावती देश था। उसमें पुण्डरीकिणी नगरी थी। वहां का राजा महापद्म था। वह बड़ा पराक्रमी था। उसने शत्रुदल को अपने वश में कर लिया था। जनता पर उसका इतना प्रभाव था कि वह जो नई परम्परा डालता था, जनता में वह रिवाज बन जाती थी। जनता उसके गुणों पर मुग्ध थी। वह बड़ा पुण्यात्मा था। उसे कभी किसी वस्तु का अभाव नहीं खटकता था।

एक दिन वनपाल ने आकर राजा को समाचार दिया कि वन में महान् विभूतिसम्पन्न भूतहित नामक जिनराज विराजमान हैं। समाचार सुनते ही वह पुरजनों-परिजनों के साथ वन में गया। वहाँ जाकर उसने जिनराज की वन्दना की, पूजा की और जाकर अपने स्थान पर बैठ गया। उनका कल्याणकारी उपदेश सुनकर राजा को संसार के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो गया। सत्यज्ञान होने पर क्या कोई संसार के भोगों और ममता के बन्धनों में बना रह सकता है। उसने तत्काल अपने पुत्र धनद को राज्य भार सौंप दिया और अनेक राजाओं के साथ वह मुनि बन गया। क्रमशः वह द्वादशांग का वेत्ता हो गया और वह सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन करने लगा जिससे उसे तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध हो गया। अन्त में उसने समाधिमरण ले लिया। आयु पूर्ण होने पर वह प्राणत स्वर्ग का इन्द्र हुआ।

गर्भ कल्याणक—

भरत क्षेत्र में काकन्दी नगरी के अधिपति महाराज सुग्रीव थे जो इक्ष्वाकु वंशी काश्यप गोत्री थे। उनकी पटरानी का नाम जयरामा था। भगवान जब गर्भ में आये, उससे छह माह पूर्व से गर्भकाल के नौ माह पर्यन्त देवों ने रत्नवृष्टि की। एक दिन महारानी सो रही थी। उस दिन फाल्गुन कृष्णा नौमी और मूल नक्षत्र था। ब्राह्म मुहूर्त का समय था। उस समय महारानी ने सोलह शुभ स्वप्न देखे। जब महारानी जागीं तो उन्होंने अपने पति से उन स्वप्नों का फल पूछा—महाराज ने अवधिज्ञान से स्वप्नों

का फल महारानी से कहा। महारानी फल सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई। उस शुभ मुहूर्त में प्राणत स्वर्ग का वह इन्द्र आयु पूर्ण होने पर महारानी के गर्भ में अवतरित हुआ।

जन्म कल्याणक—

नौ माह पूर्ण होने पर महारानी ने मार्गशीर्ष शुक्ला प्रतिपदा के दिन जैत्रयोग में एक लोकोत्तर पुत्र को जन्म दिया। उसी समय चारों प्रकार के देवों और इन्द्रों ने आकर बाल भगवान को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के जल से उनका अभिषेक किया और उनका सब देवों ने मिल कर जन्म कल्याणक महोत्सव बड़े समारोह के साथ मनाया। इन्द्र ने कुन्द के पुष्प के समान कांति वाले उस बालक का नाम पुष्पदन्त रक्खा। उनका लांछन मगर था।

निष्क्रमण कल्याणक—

बालक पुष्पदन्त जन्म काल से ही मति, श्रुत और अवधिज्ञान का धारक था। वह अपनी बाल-क्रीड़ाओं से सब मनुष्यों को प्रसन्न करता था। उसके वस्त्राभूषण, भोजन-पान सभी कुछ देवोपनीत थे। उसके बालसाथी देव थे।

जब बालक कुमार अवस्था पार करके यौवन को प्राप्त हुआ, पिता ने अपना राजपाट उसे सौंप दिया और वे मुनि दीक्षा लेकर आत्म-कल्याण के लिये वनों में चले गये। राज्य-शासन करते हुए महाराज पुष्पदन्त ने संसार के सभी सुखों का अनुभव किया। भगवान तो असीम पुण्य के स्वामी थे ही, किन्तु जो स्त्रियाँ भगवान को सुख देती थी, वे भी असाधारण पुण्याधिकारिणी थीं।

एक दिन भगवान बैठे हुए प्रकृति के सौन्दर्य का रस पान कर रहे थे, तभी अकस्मात उल्कापात हुआ। संसार में रहकर भी जो संसार से पृथक् थे, उनके लिए यह साधारण लगने वाली घटना ही प्रेरक सिद्ध हुई। वे उल्कापात देखकर विचारमग्न हो गये। वे विचार करने लगे—यह उल्का नहीं है, अपितु मेरे अनादिकाल के महा मोह रूपी अन्धकार को दूर करने वाली दीपिका है। इससे उन्हें बोधि प्राप्त हुई और उन्हें यह दृढ़ आत्म प्रतीति हुई—मेरा आत्मा ही मेरा है, यह राज्य, स्त्री-पुत्र आदि सभी पर हैं, कर्मकृत संयोग मात्र हैं। अब मुझे आगे के लिये ही निज का पुरुषार्थ जगाना है।

तभी लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान की पूजा की और उनके विचारों की सराहना की। भगवान भी अपने पुत्र सुमति का राज्याभिषेक करके सूर्यप्रभा पालकी में बैठकर नगर के बाहर उद्यान में पहुंचे। वहां बेला का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। दीक्षा लेते ही उन्हें मन:पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। इन्द्रों और देवों ने भगवान का दीक्षा कल्याणक मनाया।

दूसरे दिन आहार के लिये शैलपुर नगर में पहुंचे। वहां पुष्पमित्र राजा ने उन्हें आहार देकर असीम पुण्य का उपार्जन किया। देवों ने वहां आकर पचाश्चर्य किये।

केवलज्ञान कल्याणक—

भगवान निरन्तर तपस्या करते रहे। उन्हें इस प्रकार तपस्या करते हुए चार वर्ष व्यतीत हो गये। तब वे कार्तिक शुक्ला द्वितीया के दिन सायंकाल के समय मूल नक्षत्र में दो दिन का उपवास लेकर नाग वृक्ष के नीचे बैठ गये और उसी दीक्षा वन में घातिया कर्मों को निर्मूल करके अनन्त चतुष्टय को प्राप्त किया।

इन्द्रों ने आकर भगवान के केवलज्ञान की पूजा की और समवसरण की रचना की। उस दिन सर्व पदार्थों का निरूपण करने वाली भगवान की दिव्य ध्वनि प्रगट हुई।

भगवान का सघ—

भगवान पुष्पदन्त के सात ऋद्धियों के धारक विधर्भ आदि अठासी गणधर थे १५०० श्रुतकेवली, १५५५०० शिक्षक, ८४00 अवधिज्ञानी, ७००० केवलज्ञानी, १३000 विक्रिया ऋद्धि के धारक, ७५०० मन:-पर्यायज्ञानी और ६६०० वादी मुनि थे। इस प्रकार कुल मुनियों की संख्या २००००० थी। इनके अतिरिक्त घोषार्या आदि ३८0000 आर्यिकायें, २००००० श्रावक और ५००००० श्राविकायें थी।

निर्वाण कल्याणक—

भगवान के समस्त आर्य देशो में बिहार करके सद्धर्म का उपदेश दिया, जिससे असंख्य प्राणियों ने आत्म-हित किया। अन्त में वे सम्मेद शिखर पहुंचे और योग निरोध करके भाद्रपद शुक्ला अष्टमी के दिन मूल नक्षत्र में सायंकाल के समय एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष को प्राप्त हो

गये। देव और इन्द्र आये और उनका निर्वाण कल्याणक मनाकर अपने-अपने स्थान को चले गये।

अपर नाम—

भगवान पुष्पदन्त का दूसरा नाम सुविधिनाथ भी है।

यक्ष-यक्षिणी—

भगवान पुष्पदन्त के सेवक यक्ष का नाम अजित यक्ष और सेविका यक्षिणी का नाम महाकाली था।

इन्हीं के समय में रुद्र नामक तीसरा रुद्र हुआ।

काकन्दी—

पूर्वी उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में खुखन्दू नामक एक कस्वा है। यह सड़क मार्ग से देवरिया-सलेमपुर सड़क से एक मील है। मार्ग कच्चा है। पश्चिम से आने वालों को देवरिया और पूर्व से आने वालों को सलेमपुर उतरना चाहिए। दोनों ही स्थानों से यह १४-१४ कि० मी० है। यहाँ पुराने भवनों के भग्नावशेष लगभग एक मील में बिखरे पड़े हैं। यहां प्राचीन तालाब हैं और तीस टीले हैं। यहीं पर प्राचीन काल में काकन्दी थी। काकन्दी का नाम बदलते बदलते किष्किन्धापुर और फिर खुखन्दू हो गया।

इस नगर में पुष्पदन्त भगवान का जन्म हुआ था।

यहीं पर काकन्दी नरेश अभयघोष हुए थे। उन्होंने एक कछुए की टांगे तलवार से काट दी थीं। कछुए का वह जीव उनके घर में ही पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। अभयघोष नरेश यथासमय पुत्र को राज्य देकर मुनि बन गये। एक बार मुनि अभयघोष विहार करते हुए काकन्दी आये और नगर के बाहर उद्यान में ध्यान लगाकर खड़े हो गये। उनका पुत्र चण्डवेग घूमता हुआ उधर से निकला। पूर्व जन्म के वैर के कारण चण्डवेग ने मुनि अभयघोष को देखते ही उन पर उपसर्ग करना प्रारम्भ कर दिया। उसने तीक्ष्ण धार वाले हथियार से उनके अग काटना प्रारम्भ कर दिया। जब अन्तिम अग कट रहा था, तभी मुनिराज को केवलज्ञान हो गया और वहीं से निर्वाण प्राप्त किया। इस प्रकार यह स्थान सिद्ध क्षेत्र भी है।

यहां के टीलों को लोग 'देउरा' कहते है। देउरा का अर्थ है देवालय यहां भारत सरकार की ओर से जो खुदाई हुई थी, उसके फलस्वरूप यहां तीर्थंकर मूर्तियां, चैत्य वृक्ष और स्तूपों के भग्न भाग निकले थे। यहां

खुदाई में ईंटों का एक फर्श भी मिला था, जिसे पुरातत्त्ववेत्ताओं ने जैन मन्दिर माना है।

यहां के मन्दिर में भगवान नेमिनाथ की श्यामवर्ण वाली सवा दो फुट की पद्मासन प्रतिमा मूलनायक है। इसके अतिरिक्त भगवान पुष्पदन्त, भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमायें हैं। एक चौबीसी है। अम्बिका देवी की एक पाषाण प्रतिमा भूगर्भ से निकली हुई यहां रक्खी है। नेमिनाथ और अम्बिका की मूर्तियां गुप्त काल या उससे भी पूर्व की हैं।

ककुभग्राम—

आजकल इसका नाम 'कहाऊँ' है। यहीं भगवान पुष्पदन्त की दीक्षा और केवलज्ञान कल्याणक हुआ था। यह काकन्दी से १६ कि० मी० है। प्राचीन काल में यह काकन्दी का बाहरी उद्यान या वन था।

यहां भी चारों ओर भग्नावशेष बिखरे पड़े हैं। यहां एक टूटे मकान में पांच फुट ऊँची सिलेटी वर्ण की एक तीर्थंकर प्रतिमा रक्खी हुई है। यह बीच से खण्डित है। ग्रामीण लोग तेल-पानी से इसका अभिषेक करते हैं।

इस कमरे के सामने एक और ऐसी ही प्रतिमा चबूतरे पर पड़ी है। यह काफी शीर्ण है। इसका मुख तक घिस गया है।

इनसे कुछ आगे एक मानस्तम्भ खडा है। यह २४ फूट ऊँचा है। इसमें एक ओर भगवान पार्श्वनाथ की सवा दो फुटी खड्गासन प्रतिमा उत्कीर्ण है। स्तम्भ के ऊपरी भाग में पांच तीर्थंकर प्रतिमायें विराजमान है। ग्रामीण लोग पार्श्वनाथ की पूजा दही-सिन्दूर से करते हैं और इस स्तम्भ को 'भीमसेन की लाट' कहते है।

स्तम्भ पर ब्राह्मी लिपि में बारह पंक्तियों का एक लेख खुदा हुआ है। उसके अनुसार इस स्तम्भ का निर्माण एवं प्रतिष्ठा मद्र नामक एक ब्राह्मण ने गुप्त संवत् १४१ (ई० सन् ४६०) में सम्राट् समुद्रगुप्त के काल में कराई थी। यह ज्ञात मान स्तम्भों में सबसे प्राचीन है।

★

१०. भगवान शीतलनाथ

पूर्व भव—

पुष्करवर द्वीप के विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण तट पर वत्स नामक देश था। उसके सुसीमा नगर में पद्मगुल्म नामक राजा राज्य करता था। वह साम, दाम, दण्ड और भेद का ज्ञाता था। सहाय, साधनोपाय, देश विभाग, काल विभाग और विनिपात प्रतीकार इन पांच अंगों से युक्त सन्धि-विग्रह का सम्यक् विनियोग करने वाला था। उसने अपने बुद्धि कौशल से स्वामी, मंत्री, कोट, कोष, मित्र, देश और सेना का खूब प्रभाव-विस्तार किया था। वह दैव बुद्धि और पुरुषार्थ द्वारा लक्ष्मी की निरन्तर वृद्धि करता रहता था। बसन्त ऋतु के आगमन होने पर वह प्रतिदिन अपनी रानियों के संग विविध क्रीड़ायें किया करता था। जब बसन्त ऋतु समाप्त हो गई तो उसे ससार की इस क्षणभंगुरता से वैराग्य हो गया और चन्दन नामक अपने ज्येष्ट पुत्र को राज्य सौंपकर आनन्द नामक मुनिराज के पास जाकर उसने जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। उसने निरन्तर तपश्चर्या करते हुए ग्यारह अंग का अध्ययन किया और षोडश कारण भावनाओं का चिन्तन करते हुए तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध कर लिया। वह चारों आराधनाओं का आराधन करता हुआ आयु के अन्त में समाधिमरण धारण करके आरण नामक पन्द्रहवें स्वर्ग का इन्द्र बना।

गर्भ कल्याणक—

भारत क्षेत्र में मलय नामक देश था। उसमें भद्रपुर नगर के स्वामी इक्ष्वाकु कुल के भूषण राजा दृढ़रथ राज्य करते थे। उनकी प्राणवल्लभा का नाम महारानी सुनन्दा था। कुबेर की आज्ञा से यक्ष देवों ने भगवान के गर्भावतरण से छह मास पहले से महाराज दृढ़रथ के प्रासाद में रत्न-वर्षा करना प्रारम्भ कर दिया। एक दिन महारानी सुनन्दा ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह स्वप्न देखे और उसके बाद एक विशालकाय हाथी को मुख में प्रवेश करते हुए देखा। उसी समय चैत कृष्णा अष्टमी के दिन पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में वह आरणेन्द्र का जीव रानी के गर्भ में अवतीर्ण हुआ।

प्रातः काल होने पर महारानी ने महाराज के पास जाकर अपने स्वप्नों की चर्चा की। महाराज ने ज्ञान से जानकर उनके फल बताते हुए

कहा—देवि ! तुम्हारे गर्भ में त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देव अवतरित हुए हैं। सुनकर महारानी अत्यन्त प्रसन्न हुई। देवों ने आकर गर्भ कल्याणक की पूजा की।

जन्म कल्याणक—

गर्भ-काल पूर्ण होने पर माघ कृष्णा द्वादशी के दिन विश्वयोग में महारानी ने पुत्र-प्रसव किया। उसी समय चारों जाति के देव और इन्द्र आकर बड़े समारोह के साथ बाल भगवान को सुमेरु पर्वत पर ले गये। वहां उन्होंने क्षीरसागर के जल से भगवान का अभिषेक किया। सौधर्म इन्द्र ने भगवान की भक्ति से विह्वल होकर ताण्डव नृत्य किया और बालक का नाम शीतलनाथ रक्खा। उनका लाछन श्रीवृक्ष था।

दीक्षा-कल्याणक—

बालक शीतलनाथ दूज के चन्द्रमा के समान बढने लगे। जब किशोरवय पार कर वे यौवन अवस्था को प्राप्त हुए, उनके पिता ने उन्हे राज्याभिषेक करके राज्य सौप दिया और स्वय मुनि बन गये। भगवान राज्य पाकर न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने लगे। प्रजा उनके सुशासन से इतनी सन्तुष्ट थी कि वे प्रजा के हृदय-सम्राट् कहलाते थे।

एक दिन वे वन-विहार के लिए गये। वे जब वन में पहुचे, उस समय कोहरा छाया हुआ था। किन्तु सूर्योदय होते होते ही कोहरे का पता भी न चला। सर्वसाधारण के लिए घटना साधारण थी, किन्तु आत्मद्रष्टा शीतलनाथ के लिये यही साधारण घटना असाधारण बन गई। वे चिन्तन में डूब गये—कोहरा नष्ट हो गया, यह सारा ससार ही नाशवान् है। अब मुझे दुःख, दुखी और दुःख का निमित्त इन तीनो का यथार्थ बोध हो गया। मोह के निमित्त से मै समझता रहा—मैं सुखी हू, इन्द्रिय-सुख ही वास्तविक सुख है और यह सुख पुण्योदय से मुझे फिर भी मिलेगा। अतः अब मुझे इस मोह का ही नाश करना है।

भगवान ऐसा विचार कर रहे थे, तभी लोकान्तिक देवों ने आकर भगवान की वन्दना की और उनके विचारों की सराहना की। भगवान ने तत्काल अपने पुत्र को राज्य-भार सौप दिया और शुक्रप्रभा नाम की पालकी पर सवार होकर नगर के बाहर सहेतुक वन में पहुंचे। वहां उन्होंने माघ कृष्णा द्वादशी के दिन सायंकाल के समय पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में दो

उपवास का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया।

केवलज्ञान कल्याणक—

दीक्षा लेते ही भगवान को मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो गया। दो दिन के पश्चात् चर्या के लिए वे अरिष्ट नगर में पहुंचे। वहाँ पुनर्वसु राजा ने नवधा भक्तिपूर्वक भगवान को आहार-दान देने का सौभाग्य प्राप्त किया। देवों ने रत्नवर्षा आदि पंचाश्चर्य किये। भगवान आहार करके विहार कर गये। वे घोर तपस्या करने लगे। इस प्रकार छद्मस्थ अवस्था के तीन वर्ष तक उन्होंने नानाविध तप किये। तदनन्तर वे एक दिन बेल के वृक्ष के नीचे दो दिन का उपवास करके ध्यानलीन हो गये। तभी पौष कृष्णा चतुर्दशी के दिन पूर्वाषाढ़ नक्षत्र में सायंकाल के समय भगवान को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। उसी समय देवों ने आकर भगवान के ज्ञान कल्याणक की पूजा की तथा समवसरण की रचना की। उसमें देव, मनुष्य और तिर्यंचों के समक्ष भगवान की कल्याणी दिव्यध्वनि खिरी। यह भगवान का प्रथम धर्म-चक्र-प्रवर्तन था।

भगवान का संघ—

भगवान के संघ में अनगार आदि ८१ गणधर थे। १४०० पूर्वधारी, ५९२०० शिक्षक, ७२०० अवधिज्ञानी, ७००० केवली, १२००० विक्रिया-ऋद्धिधारी मुनि, ७५०० मनःपर्ययज्ञानी थे। इस प्रकार उनके मुनियों की कुल संख्या एक लाख थी। धरणा आदि ३८०००० आर्यिकायें थी। दो लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकायें थीं।

निर्वाण कल्याणक—

वे चिरकाल तक अनेक देशों में विहार करके भव्य जीवों को कल्याण का मार्ग बताते रहे। अन्त में वे सम्मेदशिखर जा पहुंचे और वहाँ एक माह का योग-निरोध करके उन्होंने प्रतिमा योग धारण कर लिया और आश्विन शुक्ला अष्टमी को सायंकाल के समय पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में समस्त कर्मों का नाश करके एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया। देवों ने आकर उनके निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी—

भगवान शीतलनाथ के सेवक यक्ष का नाम ब्रह्म यक्ष और सेविका मानवी यक्षिणी थी।

भगवान शीतलनाथ के समय विश्वानल नाम का चौथा रुद्र हुआ था।

भ० शीतलनाथ की जन्म-भूमि-भद्रिकापुरी

भगवान शीतलनाथ का जन्म भद्रिकापुरी या भद्दिलपुर में हुआ था और उन्होंने अपनी जन्म–नगरी के बाह्म उद्यान में दीक्षा ग्रहण की थी तथा दीक्षा-वन में ही उन्हें केवलज्ञान हुआ। किन्तु भद्रिकापुरी कहाँ है, इस बात को जैन समाज प्रायः भूल चुकी है। कई विद्वान् अज्ञानवश भेलसा (मध्य प्रदेश) को शीतलनाथ भगवान की जन्म-भूमि मानते हैं। किन्तु भगवान शीतलनाथ की जन्म-नगरी भद्रिकापुरी वर्तमान में बिहार प्रान्त में हजारीबाग जिले में है और वर्तमान में उस नगर का नाम भोंदल गांव है। इसी प्रकार उनका दीक्षा–वन एव केवलज्ञान कल्याणक स्थान कोल्हुआ पर्वत है। यह स्थान हजारीबाग जिले की चतरा तहसील में है। यहाँ जाने के लिये ग्राण्ड ट्रंक रोड पर डोभी से या चतरा से सड़क जाती है। चतरा के लिये हजारीबाग से और ग्राण्ड ट्रंक रोड पर स्थित चौपारन से सड़कें जाती हैं। इनके अतिरिक्त गया से शेरघाटी, हटरगंज और हटवारिया होकर भी मार्ग है। यह हण्टरगंज से दक्षिण–पश्चिम में छह मील है। भोंदलगांव कोल्हुआ पहाड़ से पाच-छह मील है।

सन् १८९९ में प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता श्री नन्दलाल डे ने यहाँ का निरीक्षण करके इस पर्वत को मंकुल पर्वत माना था, जहाँ भ० बुद्ध ने अपना छठवाँ चातुर्मास किया था तथा इस मन्दिर पर स्थित मन्दिरों और मूर्तियों को बौद्ध लिखा था। किन्तु सन् १९०१ में डा० एम० ए० स्टन ने एक लेख लिखकर यह सिद्ध किया था कि यहाँ के सारे मन्दिर और मूर्तियाँ वस्तुतः जैन हैं और यह पर्वत जैन तीर्थंकर शीतलनाथ की पवित्र जन्म-भूमि है। तभी से यह स्थान प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। यहीं नहीं, इसके आस-पास में सतगवां, कुन्दविला, बलरामपुर, ओरम, दारिका, छर्रा, डलमा, कतरासगढ़, पवनपुर, पाकबीर, तेलकुपी आदि में अनेक प्राचीन जैन मूर्तियां उपलब्ध होती हैं। भोंदलगांव के निकट तो श्रावक पहाड़ भी है। इस सबसे यह सहज ही अनुमान होता है कि यह स्थान कभी जैन धर्म का महान् केन्द्र था और इसके निकट का सारा प्रदेश जैन धर्मानुयायी था।

कोल्हुआ पहाड़ पर जाने के दो मार्ग हैं—पश्चिम की ओर से हट-वारिया होकर तथा पूर्व की ओर से घाटी में होकर। हटवारिया की ओर से चढ़ने पर लगभग एक किलोमीटर चलने पर भगवान पार्श्वनाथ की पौने

दो फुट अवगाहना वाली एक प्रतिमा मिलती है। हिन्दू जनता इसे 'द्वार-पाल' कहती है। इससे दो कि० मी० आगे चलने पर एक भग्न कोट मिलता है। फिर एक तालाब ३००×७०० गज का मिलता है। सरकार की ओर से इसकी खुदाई कराई गई थी। फलत: एक सहस्रकूट चैत्यालय मिला। इसमें ढाई इंच वाली पचास प्रतिमायें हैं। सरोवर के किनारे अनेक खण्डित अखण्ति जैन प्रतिमायें और जैन मन्दिरों के अवशेष बिखरे पड़े हैं।

कोट द्वार के दक्षिण पूर्व की ओर कुलेश्वरी देवी का मन्दिर है, जो मूलत: जैन मन्दिर था। मन्दिर के दक्षिण की ओर एक गुफा में पार्श्वनाथ प्रतिमा है जो प्राय: एक गज ऊँची है। इसके निकट दूसरी गुफा में एक पद्मासन तीर्थंकर-मूर्ति है।

सरोवर के उत्तर में एक छोटा-सा प्राचीन जैन मन्दिर है, जिसके ऊपर पांच शिखर हैं। इसे सर्वे सैटिलमेण्ट के नकशे में पार्श्वनाथ मन्दिर माना है। मन्दिर के बाहर जो चबूतरा है, उसे पार्श्वनाथ चबूतरा लिखा है। आगे जाकर आकाश लोचन कूट है। उस पर आठ इंच लबे चरण बने हुए हैं। इससे कुछ आगे एक गुफा में एक फुट अवगाहना वाली दस प्रतिमायें एक चट्टान में उकेरी हुई हैं। इससे आगे एक चट्टान में पांच पद्मासन और पांच खड्गासन प्रतिमायें उत्कीर्ण हैं। भूल से लोग इन्हें पांच पाण्डवों और दशावतार की प्रतिमायें कहने लगे है।

भोंदलगांव छोटा-सा गांव है। अनुसन्धान किया जाय तो यहाँ भी जैन मन्दिर और मूर्तियाँ मिल सकती हैं।

मिथ्यादान का इतिहास

भगवान शीतलनाथ के तीर्थ का अन्तिम चरण था। उस समय वक्ता, श्रोता और धर्माचरण करने वाले व्यक्तियों का अभाव हो गया। उस समय भद्रिलपुर में मलय देश का राजा मेघरथ था। एक दिन राजा ने राज्य-सभा में प्रश्न किया—सबसे अधिक फल देने वाला दान कौन सा है ? इसके उत्तर में सत्यकीर्ति नामक मंत्री, जो दान के तत्त्व को जानने वाला था—कहा—'आचार्यों ने तीन दान सर्वश्रेष्ठ बताये हैं—शास्त्रदान, अभयदान और अन्नदान। अन्नदान की अपेक्षा अभयदान श्रेष्ठ है और अभयदान की अपेक्षा शास्त्रदान उत्तम है। आप्त द्वारा कहा हुआ और पूर्वापर अविरोधी एवं प्रत्यक्ष-परोक्ष से बाधित न होने वाला शास्त्र ही सच्चा शास्त्र कहलाता है। ऐसे शास्त्र का व्याख्यान करने से संसार के दु:खों से त्रस्त व्यक्तियों का

कल्याण होता है। अतः शास्त्र-दान ही सर्वोत्तम फल देने वाला है। इस दान के द्वारा ही हेय और उपादेय तत्व का बोध होता है। किन्तु राजा को यह रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। अपनी कलुषित भावनाओं के कारण वह कुछ और ही दान देना चाहता था।

उसी नगर में भूतिशर्मा नामक एक ब्राह्मण रहता था। वह खोटे शास्त्र बनाकर राजा को प्रसन्न किया करता था। उसके मरने पर उसका पुत्र मुण्डशालायन भी यही काम करता रहा। वह भी उस समय राज्य-सभा में बैठा हुआ था। वह बोला—'महाराज ! ये सब दान तो साधुओं और दरिद्रों के लिये हैं। किन्तु महत्त्वाकांक्षी राजाओं के लिये तो शाप और अनुग्रह करने की शक्ति से सम्पन्न ब्राह्मणों के लिये सुवर्ण, भूमि आदि का दान अनन्त काल तक यश देने वाला है।' यह कहकर उसने अपने बनाये हुए शास्त्र को खोलकर उसे सबको सुना दिया। राजा उसकी बातों से बड़ा प्रसन्न हुआ उसने मुण्डलायन को पृथ्वी और सुवर्ण का दान देकर सम्मानित किया।

इसके बाद उत्साहित होकर मुण्डलायन ने दस प्रकार के दानों का विधान किया (१) कन्यादान (२) सुवर्णदान (३) हस्तिदान (४) अश्व-दान (५) गोदान (६) दासीदान (७) तिलदान (८) रथदान (९) भूमिदान और [१०] गृहदान।

तबसे पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत दानों के स्थान पर इन दानों की परम्परा चल पड़ी।

★

११. भगवान श्रेयान्सनाथ

पूर्व भव

पुष्करार्द्ध द्वीप में पूर्व विदेह क्षेत्र स्थित सुकच्छ देश के क्षेमपुर नगर में नलिनप्रभ नामक राजा राज्य करता था। वह न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करता था। वह धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थो का सन्तुलित रूप से उपयोग करता था। एक दिन वनपाल ने हर्ष-समाचार सुनाया कि सहस्राम्र वन में अनन्त जिनेन्द्र पधारे हैं। यह समाचार सुनकर वह अपने परिजन और पुरजनों से युक्त उस वन में पहुंचा। वहाँ उसेने जिनेन्द्रदेव की पूजा की, स्तुति की और फिर वह अपने योग्य आसन पर बैठ गया। तब जिनेन्द्रदेव का धर्मोपदेश हुआ। उपदेश सुनकर उसे एक प्रकाश मिला। वह विचार करने लगा-मैंने मोहवश, अनादिकाल के संस्कारवश यह परिग्रह एकत्रित किया है। इसका त्याग किये बिना कल्याण सभव नहीं है। तब समय नष्ट करने से क्या लाभ है। यह सोचकर उसने अपने पुत्र सुपुत्र का राज्याभिषेक कर दिया और अनेक राजाओं के साथ उसने सयम ग्रहण कर लिया। उसने कठिन तप का आचरण किया, ग्यारह अंगो का अध्ययन किया, षोडश कारण भावनाओं का सतत चिन्तन किया। फलत: उसे तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो गया। आयु के अन्त में समाधिमरण करके वह अच्युत नामक सोलहवें स्वर्ग का इन्द्र बना।

गर्भावतरण

भरत क्षेत्र में सिंहपुर नगर के अधिपति महाराज विष्णु नामक राजा थे, जो इक्ष्वाकुवंशी थे। उनकी महारानी का नाम नन्दा था। देवों ने गर्भावतरण से छह माह पूर्व से पन्द्रह माह तक रत्नवर्षा की। एक दिन महारानी ने ज्येष्ठ कृष्णा षष्ठी के दिन श्रवण नक्षत्र के योग में प्रातःकाल के समय सोलह स्वप्न देखे और अपने मुख में एक हाथी को प्रवेश करते हुए देखा। उसी समय अच्युतेन्द्र का जीव अपनी आयु पूरी करके महारानी नन्दा के गर्भ में अवतरित हुआ। प्रातःकाल उठने पर महारानी ने अपने पति के पास जाकर उन्हें अपने देखे हुए स्वप्न सुनाये और उनका फल पूछा। महाराज ने स्वप्न सुनकर बड़ा हर्ष प्रगट किया और स्वप्नों का फल

बताया कि तुम्हारे गर्भ में तीर्थंकर ने अवतार लिया है। इन्द्रों और देवों ने आकर तीर्थंकर के गर्भ कल्याणक का महोत्सव किया।

जन्म कल्याणक

देवियां माता की सेवा करती थीं। वे उनका मनोरंजन करने से लेकर स्नान आदि सब काम करती थीं। माता को गर्भ का काल कब व्यतीत हो गया, यह पता ही नही चला फागुन कृष्णा एकादशी के दिन विष्णुयोग में तीन ज्ञान के धारक तीन लोक के प्रभु को जन्म दिया। पुत्र का जन्म होते ही तीनों लोको के जीवो का मन हर्ष से भर गया। रोगियों के रोग शान्त हो गये। शोक वाले शोक रहित हो गये। तभी चारों जाति के देव अपने इन्द्रों के साथ विविध वाहनो पर आये। चारों ओर देव दुन्दुभि बजा रहे थे, देवांगनायें नृत्य कर रही थी, गन्धर्व मधुर गान कर रहे थे। सारे लोक में हर्ष व्याप्त था। इन्द्राणी द्वारा लाये हुए बालक को सौधर्मेन्द्र ने गोद में लेकर सहस्र नेत्र बनाकर उस बाल-प्रभु के दर्शन किये और ऐरावत हाथी पर बैठाकर देवो के साथ सुमेरु पर्वत पर जा पहुचा। वहाँ देवों ने क्षीरसागर के जल से परिपूर्ण एक हजार कलशो से भगवान का अभिषेक किया। इन्द्राणी ने उन्हे वस्त्राभूषणो से अलकृत किया। सौधर्मेन्द्र ने उनकी लोकोत्तर छवि देखते हुए उनका नाम श्रेयान्स रक्खा। उनका चिन्ह गेंडा था।

दीक्षा कल्याणक

धीरे-धीरे श्रेयान्स कुमार बढ़ने लगे। जब उनका कुमार काल व्यतीत हो गया और उन्होंने यौवन में पदार्पण किया, पिता ने अपना राज्य पुत्र को सोंप दिया। अब श्रेयान्सनाथ ने राज्य-भार संभाल लिया। उन्हें पूर्व पुण्य से सब प्रकार के भोग प्राप्त थे। प्रजा उनके पण्य-प्रभाव और सुशासन से खूब सन्तुष्ट थी और निरन्तर समृद्धि की ओर बढ़ रही थी। उनका शासन कल्याणकारी था।

एक दिन वसन्त ऋतु का परिवर्तन देखकर मन में विचार प्रस्फुटित हुआ—काल बड़ा बलवान है, ऐसा कहा जाता है। किन्तु काल भी छिन-छिन में छीज रहा है। जब काल ही अस्थिर है, तब संसार में स्थिर क्या है? केवल शुद्ध स्वरूप आत्मा के गुण ही अविनश्वर हैं। जब तक शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति न हो जाय, तब तक निश्चिन्त नहीं हो सकता।

भगवान यह विचार कर रहे थे, तभी सारस्वत आदि लौकान्तिक देवों ने आकर उनकी स्तुति की और उनके वैराग्य की सराहना की।

भगवान ने अपने पुत्र श्रेयस्कर को राज्य सौंप दिया और देवों द्वारा उठाई गई विमलप्रभा नामक पालकी में आरूढ़ होकर नगर के बाह्य अंचल में स्थित मनोहर उद्यान में पहुंचे। वहाँ पहुंच कर दो दिन के लिये आहार का त्याग कर फाल्गुन कृष्णा एकादशी को प्रातःकाल के समय श्रवण नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया। उसी समय उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो गया।

उन्होंने पारणा के लिये सिद्धार्थ नगर में प्रवेश किया। वहाँ नन्द राजा ने भगवान को भक्तिपूर्वक आहार दिया। देवों ने पंचाश्चर्य किये।

केवलज्ञान कल्याणक

भगवान श्रेयान्सनाथ ने तप करते हुए दो वर्ष विभिन्न स्थानों पर बिहार करते हुए बिताये। वे फिर बिहार करते हुए अपने दीक्षा–बन में पधारे। वहाँ दो दिन के उपवास का नियम लेकर वे तुम्बुर वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ हो गये। वहीं पर उन्हें माघ कृष्णा अमावस्या के दिन श्रवण नक्षत्र में सायंकाल के समय केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। देवों और इन्द्रोंने आकर केवलज्ञान कल्याणक उत्सव मनाया। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवसरण की रचना की। उसमें देव, मनुष्य और तिर्यचों के पुण्य योग से भगवान की प्रथम दिव्यध्वनि खिरी। इस प्रकार उन्होने धर्मचक्र प्रवर्तन किया।

भगवान का परिवार

भगवान के कुन्थु आदि सतत्तर गणधर थे। १३०० पूवधर, ४८२०० शिक्षक, ६००० अवधिज्ञानी, ६५०० केवलज्ञानी, ११००० विक्रियाऋद्धि-धारी, ६००० मनःपर्ययज्ञानी और ५००० वादी मुनि थे। इस प्रकार कुल मिलाकर ८४००० मुनि थे। इनके अतिरिक्त धारणा आदि १२०००० अर्जिकायें थी। २००००० श्रावक और ५००००० श्राविकायें थीं।

निर्वाण कल्याणक

केवलज्ञान के पश्चात् भगवान विभिन्न देशों में बिहार करके भव्य जीवों को उपदेश देते रहे। जब वायु कर्म का अन्त होने में एक माह शेष रह गया, तब वे सम्मेदशिखर पहुंचे। वहाँ एक माह तक योग निरोध कर एक हजार मुनियों के साथ श्रावण शुक्ला पूर्णमासी के दिन सायंकाल के समय धनिष्ठा नक्षत्र में अघातिया कर्मों का क्षय करके मुक्त हो गये।

देवों ने आकर धूमधाम से उनका निर्वाण कल्याणक मनाया।

यक्ष-यक्षिणी

भगवान श्रेयान्सनाथ के सेवक यक्ष का नाम यक्षेश्वर और सेविका यक्षिणी का नाम गौरी था।

सिंहपुरी

भगवान श्रेयान्सनाथ का जन्म सिंहपुरी में हुआ था। यह स्थान वाराणसी से सड़क मार्ग द्वारा छह किलो मीटर है। वाराणसी से टैक्सी और बस बराबर मिलती हैं। ट्रेन से जाना हो तो सारनाथ स्टेशन उतरना चाहिए। वहाँ से जैन मन्दिर तीन फर्लांग है। आजकल यह स्थान सारनाथ कहलता है। यहाँ श्रेयान्सनाथ के गर्भ, जन्म दीक्षा और केवलज्ञान ये चार कल्याण हुए थे।

यहाँ एक शिखरवन्द दिगम्बर जैन मन्दिर है। मन्दिर में भगवान श्रेयान्सनाथ की ढाई फुट अवगाहना वाली श्याम वर्ण मनोज्ञ प्रतिमा विराजमान है। इसकी प्रतिष्ठा सम्वत् १८८१ में मार्गशीर्ष शुक्ला षष्ठी शुक्रवार को पभौसा पर्वत पर हुई थी। यह भेलूपुरा के मन्दिर से लाकर यहाँ विराजमान की गई थी। इस प्रतिमा के आगे भगवान श्रेयान्सनाथ की एक श्वेत वर्ण तथा भगवान पार्श्वनाथ की श्यामवर्ण प्रतिमा विराजमान है। वेदी के पृष्ठ भाग में एक अलमारी में एक शिलाफलक में नन्दीश्वर चैत्यालय हैं, जिसमें ६० प्रतिमाये बनी हुई है। यह भूगर्भ से मिली थी।

मन्दिर के आगे सरकार की ओर से घास का लान और पुष्प-वाटिका बनी हुई है। यही पर अशोक द्वारा निर्मित्त स्तूप बना हुआ है जो १०३ फुट ऊचा है। स्तूप के ठीक सामने सिंहद्वार बना हुआ है। द्वार बड़ा कलापूर्ण है। दोनों स्तम्भों के शीर्ष पर सिंहचतुष्क बना हुआ है। सिंहों के नीचे धर्मचक्र और दाईं-बाईं ओर बैल और घोड़े की मूर्तियाँ अंकित हैं। इसी स्तम्भ की सिंहत्रयी को भारत सरकार ने राजचिन्ह के रूप में मान्यता प्रदान की है और धर्म-चक्र को राज्य-ध्वज पर अंकित किया गया है। यह बौद्ध तीर्थ माना जाता है, जहाँ बुद्ध ने धर्म-चक्र प्रवर्तन किया था।

कुछ विद्वानों की मान्यता है कि यह स्तूप भगवान श्रेयान्सनाथ की स्मृति में सम्राट् अशोक के पौत्र सम्राट् सम्प्रति ने बनवाया था सारनाथ नाम भी श्रेयान्सनाथ से बिगड़ कर बना है।

भगवान श्रेयान्सनाथ के शासन काल में प्रथम बलभद्र, विजय, त्रिपृष्ठ नरायण और अश्वग्रीव प्रतिनारायण हुवे।

★

१२-भगवान वासुपूज्य

पूर्व भव

पुष्करार्घ द्वीप के पूर्व मेरु की ओर सीता नदी के दक्षिण तट पर वत्सकावती नाम का देश था। उसके रत्नपुर नगर का स्वामी पद्मोत्तर नाम का राजा था। उस राजा की कीर्ति चारों दिशाओं में व्याप्त थी। वह अनेक गुणों का पुंज और प्रजा-वत्सल था। एक दिन मनोहर पर्वत पर युगन्धर जिनराज पधारे। राजा को उनके आगमन का समाचार मिलते ही वह उनके दर्शनों के लिए पहुंचा। उसने भक्ति-पूर्वक जिनराज की वन्दना और स्तुति की। भगवान का उपदेश सुनकर उसका मन वैराग्य के रंग में रंग गया। उसे संसार नि:सार अनुभव होने लगा। उसने तभी आकर अपने पुत्र धनमित्र को राज्य सौंप दिया और अनेक राजाओं के साथ जिन-देव से मुनि-दीक्षा ले ली। उसने जिनराज के चरणों में ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, दर्शन विशुद्धि आदि भगवानाओं का निरन्तर चिन्तन किया। फलतः उसे तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध हो गया। अन्त में सन्यास मरण करके वह महाशुक्र विमान में इन्द्र बना।

गर्भ कल्याणक

चम्पा नगरी अंग देश की राजधानी थी। वहाँ के अधिपति महाराज वसुपूज्य थे जो इक्ष्वाकु वंशी काश्यप गोत्री थे। उनकी पत्नी का नाम जयावती था। गर्भकल्याणक से छह माह पूर्व से देवों ने उनके वहां रत्नवर्षा करना प्रारम्भ किया। रानी ने आषाढ़ कृष्णा षष्ठी के दिन चौबीसवें शतभिषा नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह स्वप्न देखे। उन्होंने प्रात:काल होने पर पति से स्वप्नों की चर्चा की और उनका फल पूछा। पतिदेव ने उनका फल वर्णन किया, सुनकर रानी बड़ी हर्षित हुई। उसी दिन महाशुक्रेन्द्र का जीव आयु पूरी करके उनके गर्भ में अवतरित हुआ। देवों ने आकर भगवान का गर्भ कल्याणक महोत्सव किया।

जन्म कल्याण

नौवें माह के पूरे होने पर फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन वारुण योग में सब प्राणियों का हित करने वाले पुत्र का जन्म हुआ। वह पुत्र

असाधारण था, उसका जन्म-महोत्सव भी असाधारण ढंग से मनाया गया। चारों जाति के देव और इन्द्र चम्पापुरी में आये। सौधर्मेन्द्र शची द्वारा सौर गृह से लाये हुए बालक को ऐरावत गज पर आरूढ़ करके सब देवों के साथ सुमेरु पर्वत पर पहुंचे। वहाँ उन्होंने क्षीरसागर के जल से प्रभु का जन्माभिषेक किया। शची ने प्रभु का शृगार किया। फिर बालक को लेकर चंपापुरी लौटे। बालक को माता को सौंपा और इन्द्र ने बालक का नाम वासुपूज्य रक्खा। इनका शरीर लाल कमल के समान लाल था। पैर में भैंसे का चिन्ह था।

दीक्षा कल्याण

भगवान के पुण्य-प्रभाव से माता-पिता तथा प्रजा के धन-धान्य, सुख-ऐश्वर्य सभी प्रकार की वृद्धि होने लगी। बाल भगवान गुणों की खान थे। जब भगवान यौवन अवस्था को प्राप्त हुए, तब उन्होंने विवाह के बन्धन में बंधना स्वीकार नहीं किया और वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे। एक दिन वे एकान्त में बैठे चिन्तन में लीन थे, तभी अवधिज्ञान से उन्होंने अपने पिछले जन्म का ज्ञान किया। उनके गत जन्म में जो नाना घटनायें घटित हुई थी, उन्हें जानकर मन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि यहां सब चचल है, नाशवान है। जो है, सब राग रूप है, दु:ख रूप है। फिर ऐसे संसार से मोह जोड़कर लाभ क्या? जिसका विछोह अनिवार्य है, उससे ममत्व का नाता क्यों?

भगवान इस प्रकार के चिन्तन में लीन थे, तभी लौकान्तिक देव वहां आये और उन्होने भगवान की स्तुति करके उनके विचारों की प्रशसा की। देवो ने दीक्षा कल्याणक के समय होने वाला अभिषेक किया, विविध वस्त्रा-भूषण पहनाये। भगवान देवों द्वारा लाई हुई पालकी पर आरूढ़ होकर मन्दारगिरि के वन में पहुंचे और एक दिन के उपवास का नियम लेकर फागुन कृष्णा चतुर्दशी को सायंकाल के समय विशाखा नक्षत्र में सामायिक चरित्र धारण कर छह सौ छहत्तर राजाओ के साथ दीक्षा ले ली। दीक्षा लेते ही उनकी परिणाम-विशुद्धि के कारण तत्काल मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया।

वे पारणा के लिए जब नगर में पधारे तो सुन्दर नरेश ने उन्हें आहार-दान देकर पुण्य-बन्ध किया और पंचाश्चर्य का सम्मान प्राप्त किया।

केवलज्ञान कल्याणक

भगवान तप करने लगे। छद्मस्थ अवस्था का एक वर्ष बीतने पर

वे विहार करते हुए दीक्षा-वन में पधारे। वहां उन्होंने कदम्ब वृक्ष के नीचे बैठकर उपवास का नियम लिया और माघ शुक्ला द्वितीया के दिन सायं-काल के समय विशाखा नक्षत्र में चार घातिया कर्मों का क्षय करके केवल-ज्ञान प्राप्त किया। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये। इन्द्रों और देवों ने आकर उनकी पूजा की। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवसरण की रचना की। उसमें श्रीमण्डप के बीच गन्धकुटी में अशोक वृक्ष के नीचे कमलासन पर विराजमान होकर भगवान की दिव्य ध्वनि खिरी। इस प्रकार उन्होंने मन्दारगिरि पर धर्म-चक्र-प्रवर्तन करके धर्म की विच्छिन्न कड़ी को पुनः जोड़ा।

भगवान का संघ

उनके धर्म आदि छियासठ गणधर थे। उनके संघ में १२०० पूर्वधर ३६२०० शिक्षक, ५४०० अवधि ज्ञानी, ६००० केवल ज्ञानी, १०००० विक्रिया ऋद्धिधारी, ६००० मन.पर्ययज्ञानी और ४२०० वादी थे। इस प्रकार कुल मुनियों की संख्या ७२००० थी। इनके अतिरिक्त सेना आदि १०६००० आर्यिकायें थीं। २००००० श्रावक और ४०००० श्राविकाये थीं।

निर्वाण कल्याणक

भगवान ने समस्त आर्य क्षेत्रों में विहार करके धर्म-वर्षा की और विहार करते हुए चम्पापुरी में एक हजार वर्ष तक रहे। जब आयु में एक मास शेष रह गया, तब योग निरोध कर रजतमालिका नदी के तट पर स्थित मन्दारगिरि के मनोहरोद्यान में पल्यंकासन से स्थित हुए तथा भाद्र-पद[1] शुक्ला चतुर्दशी के दिन सायं काल के समय विशाखा नक्षत्र में चौरा-नबे मुनियों के साथ मुक्ति को प्राप्त हुए। देवों ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी

उनके सेवक यक्ष का नाम कुमार और यक्षिणी का नाम गान्धारी है।

---

१. यह उत्तर पुराण के अनुसार है।
तिलोयपण्णत्ति के अनुसार भगवान वासुपूज्य का निर्वाण फाल्गुन कृष्णा पंचमी, अपराण्ह काल, अश्विनी नक्षत्र में ६०१ मुनियों के साथ चम्पा-पुर में हुआ।

चम्पापुरी

भगवान वासुपूज्य के गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण ये पांचों कल्याणक चम्पानगरी में हुए थे। चम्पा के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसी नगरी नहीं है, जिसको किसी तीर्थंकर के पांचों कल्याणक मनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। इस दृष्टि से चम्पा की विशेष स्थिति है। निर्वाण काण्ड, निर्वाण भक्ति, तिलोयपण्णत्ति तथा सभी पुराण ग्रन्थों में चम्पा को वासुपूज्य भगवान की निर्वाण-भूमि माना है। केवल उत्तरपुराणकारने पर्व ५८ श्लोक ५१-५३ में मन्दार पर्वत को वासुपूज्य भगवान की निर्वाण-स्थली लिखा है। किन्तु इससे चम्पा को उनकी निर्वाण–भूमि मानने में कोई असंगति अथवा विरोध नहीं आता। चम्पापुरी उन दिनों काफी विस्तृत थी। पुराणो में उल्लेख है कि चम्पा का विस्तार अड़तालीस कोस में था। मन्दारगिरि तत्कालीन चम्पा का बाह्य उद्यान था और वह चम्पा में ही सम्मिलित था।

वर्तमान में मान्यता है कि चम्पा नाले में वासुपूज्य स्वामी के गर्भ और जन्म कल्याणक हुए थे, मन्दारगिरि पर दीक्षा और केवज्ञान कल्याणक हुए तथा चम्पापुर से भगवान का निर्वाण हुआ।

यह नगरी अंग देश की राजधानी थी। ऋषभदेव भगवान ने जिन ५२ जनपदों की रचना की थी, उनमें अंग भी था। महावीर-काल में जिन छह महानगरियों की चर्चा आती है, उनमें चम्पा भी एक नगरो थी। हजारों वर्षों तक इक्ष्वाकु वंशी ही इसके शासक होते रहे।

यहाँ अनेकों धार्मिक घटनाये हुई थीं। यहाँ अनेक मुनि मोक्ष पधारे। यहाँ अनेक महापुरुष हुए।

—मिथिला नरेश पद्मरथ सुधर्म गणधर के दर्शनो को गये। उनका उपदेश सुनकर श्रावण के बाहर व्रत धारण किये। उन्होंने गणधर भगवान से पूछा—'क्या संसार में कोई ऐसा भी व्यक्ति है जो आपके समान उपदेश दे सके।' गणधर बोले–हां, हैं। वे हैं भगवान वासुपूज्य जो संसार के गुरु हैं, त्रिलोक पूज्य हैं। वे इस समय चम्पा के उद्यान में विराजमान हैं।' राजा ने सुना तो वे तत्काल तीर्थंकर प्रभु के दर्शन करने चल दिये। मार्ग में गुप्तचर ने समाचार दिया कि अजातशत्रु की सेना आक्रमण के लिए आ रही है। पद्मरथ ने सेनापति को आज्ञा दी—सेना सज्जित करो, किन्तु शत्रु पक्ष का रक्त बहाये बिना विजय प्राप्त करनी है। युद्ध हुआ, शत्रु पक्ष का एक भी

सैनिक हताहत नहीं हुआ और विजय पद्मरथ की हुई। उन्होंने ऐसे शस्त्रों का प्रयोग किया, जिससे शत्रु बेहोश हो जाय, किन्तु मरे नहीं।

पद्मरथ फिर चलने को तैयार हुए, किन्तु तभी मिथिला नगरी में भयानक आग लग गई। इस आग में राजमहल भी जल गया, किन्तु राजा के मन में विकलता नाममात्र को भी न थी। मंत्रियों ने अपशकुन बताकर उन्हें रोकना चाहा, किन्तु दृढ़निश्चयी पद्मरथ ने कहा—बाधाओं को जीतना ही वीरों का काम है। और वह वीर तीर्थंकर प्रभु के दर्शनों को चल पड़ा। राह में देखा—कुछ कुष्ठ रोगी पीड़ा से कराह रहे हैं। राजा के मन में करुणा जागी और वे उनकी सेवा में जुट गये, उनके घाव साफ किये, मरहम पट्टी की। एक कोढ़ी ने उनके ऊपर वमन कर दिया, किन्तु उन्हें तनिक भी क्षोभ या ग्लानि नहीं आई, बल्कि वे अपनी सुधि भूलकर उस असहाय की सेवा करने लगे।

आगे बढ़े तो एक स्थान पर बलि देते हुए किसी को देखा। उसे प्रेम से समझाया। तभी विश्वानल और धन्वन्तरित देव आये और राजा की प्रशंसा करते हुए बोले—'राजन्! तुम धन्य हो। हमने ही तुम्हारी परीक्षा के लिए ये सब नाटक किये थे। किन्तु आप सम्यक्त्व में खरे उतरे।' फिर वे दोनों देव राजा को एक अद्भुत भेरी और व्याधिहर हार देकर चले गये।

राजा भेरी बजाते हुए चम्पा के उद्यान में पहुंचे और वहाँ वासुपूज्य स्वामी की वन्दना करके उनकी स्तुति की। भगवान का उपदेश हुआ। उपदेश सुनकर पद्मरथ को वैराग्य हो गया। उन्होंने वहीं भगवान के चरणों में दीक्षा ले ली। उन्होंने ऐसी साधना की कि उन्हें मनःपर्ययज्ञान हो गया। वे भगवान के गणधर बन गये और भगवान के ही साथ निर्वाण प्राप्त किया।

—चम्पा नरेश मघवा की पुत्री रोहिणी अत्यन्त सुन्दरी थी। सौन्दर्य में वह मानो रति ही थी। उसका स्वयंवर हुआ। उसने हस्तिनापुर नरेश बीतशोक के सुदर्शन पुत्र अशोक के गले में वरमाला डाल दी। दोनों आनन्द-पूर्वक रहने लगे। पिता के बाद अशोक राजा बना। एक बार दोनों भगवान वासुपूज्य के दर्शनों के लिए चम्पापुरी गये। भगवान का उपदेश सुनकर दोनों ने दीक्षा ले ली। मुनि अशोक भगवान के गणधर बने और अन्त में मोक्ष पधारे। रोहिणी अच्युत स्वर्ग में देव हुई।

—सेठ सुदर्शन यहीं उत्पन्न हुए थे और उन्हें पाटलिपुत्र में निर्वाण

प्राप्त हुआ।

चम्पानगर में धर्मघोष नामक एक श्रेष्ठी थे, वे मुनि हो गये। वे मासोपवासी थे। वे पारणा के निमित्त नगर को आ रहे थे, किन्तु मार्ग में घास होने के कारण गंगा-तट पर एक वृक्ष के नीचे बैठ गये। वे ध्यान मग्न हो गये। तभी उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया और वे वहीं से मुक्त हुए।

—राजा कर्ण यहीं के राजा थे, जिनकी दानवीरता की अनेक कथायें प्रचलित हैं।

सोमा सती, सती अनन्तमती, कोटिभट श्रीपाल आदि पुराणप्रसिद्ध महापुरुषों का जन्म इसी नगरी हुआ था।

यहां भगवान महावीर, सुधर्म और केवली जम्बूस्वामी भी पधारे थे। जब केवली सुधर्मा स्वामी यहाँ पधारे थे, तब यहाँ का शासक अजातशत्रु, जो श्रेणिक बिम्बसार का पुत्र था, नंगे पांव उनके दर्शनों के लिये गया था। अजातशत्रु ने राजगृही से हटाकर चम्पा को अपनी राजधानी बनाया था।

—यहाँ युधिष्ठिर सं० २५५६ (ई० पू० ५४१) में जयपुर के सरदार संघवी श्रीदत्त और उसकी पत्नी संघविन सुरजयी ने वासुपूज्य भगवान का एक मंदिर[1] बनवाया था। यह अनुश्रुति है कि नाथनगर में जो दिगम्बर जैन मन्दिर है वह वही पूर्वोक्त मन्दिर है।

यहाँ एक मन्दिर सेठ घनश्यामदास सरावगी द्वारा संवत् २००० में बनवाया गया। इसमें विराजमान प्रतिमाओं पर लेख नहीं है। लांछन है। जनश्रुति है कि ये प्रतिमायें ई० पू० ५४१ में निर्मित मन्दिर की हैं। किन्तु यह भी धारणा है कि पहले ये प्रतिमायें चम्पा नाले के मन्दिर में विराजमान थीं। भूकम्प आने से मन्दिर धराशायी हो गया, किन्तु प्रतिमायें सुरक्षित रहीं। वे प्रतिमायें यहाँ लाकर विराजमान कर दी गई। इनमें चार प्रतिमायें ऋषभदेव भगवान की हैं जिनके सिर पर बिभिन्न शैली की जटायें या जटाजूट हैं और एक प्रतिमा महावीर भगवान की है। ये प्रतिमायें अत्यन्त प्राचीन हैं। संभव है, कुषाण काल की हो। किन्तु इसमें संदेह नहीं है कि ये प्रतिमायें जिस मन्दिर की थीं, वह मन्दिर चम्पापुरी का सबसे प्राचीन और मूल मन्दिर था।

1—Inscription in Francklin's site of ancient Paib-othra, pp. 16-17

नाथनगर के वर्तमान मन्दिर में पूर्व और दक्षिण की ओर दो मान-स्तम्भ बने हुए हैं। इनमें ऊपर जाने के लिये सीढ़ियाँ भी थी, किन्तु अब बन्द कर दी गई हैं। पहले यहा चारों विशाओं में मानस्तम्भ बने हुए थे किन्तु दो शताब्दी पूर्व भूकम्प में दो मानस्तम्भ गिर गये। अवशिष्ट दोनों मानस्तम्भों का भी जीर्णोद्धार किया गया है। पूर्व वाले मानस्तम्भ के नीचे से एक सुरंग जाती थी जो १८० मील लम्बी थी और वह सम्मेदशिखर की चन्द्रप्रभ टोंक पर निकलती थी। किन्तु भूकम्प में जमीन धसक जाने से वह स्वत: बन्द हो गई।

सरकारी कागजातों के अनुसार यह मन्दिर ६०० वर्ष प्राचीन है। नाथनगर से चम्पानाला लगभग एक मील है। इस नाले के किनारे एक दिगम्बर जैन मन्दिर है। इसमें वासुपूज्य स्वामी की एक अन्य प्रतिमा और चरणयुगल अंकित हैं। यही स्थान प्राचीन चम्पा कहलाता है।

मन्दारगिरी—

मन्दारगिरि भागलपुर से ३१ मील है। रेल और बस द्वारा जा सकते हैं। दि० जैन धर्मशाला बोसी स्टेशन के सामने बनी हुई है। यहां से क्षेत्र दो मील दूर पड़ता है।

मन्दारगिरि पर चम्पापुर का मनोहर उद्यान था। यह चम्पापुर के बाह्य अंचल में था। इसी वन में भगवान वासुपुज्य ने दीक्षा ली तथा यहीं पर उन्हें केवलज्ञान हुआ। इस प्रकार यहां भगवान के दो कल्याणक हुए थे।

धर्मशाला से एक फर्लांग चलने पर वी० सं० २४६१ में निर्मित सेठ तलकचन्द्र कस्तूरचन्द जी बारामती वालों का मन्दिर है। वहां से लगभग डेढ़ मील चलने पर तालाब मिलता है, जिसे पापहारिणी कहते हैं। मकर संक्रान्ति में यहां वैष्णव लोगों का मेला भरता है। सब लोग स्नान करके पहाड़ पर वासुपूज्य स्वामी के दर्शन करने जाते हैं।

तालाब से आगे चलने पर कई कुण्ड मिलते हैं। पहाड़ की चढ़ाई एक मील से कुछ अधिक है। पहाड़ी के ऊपर बड़ा दिगम्बर जैन मन्दिर है। मन्दिर की दीवालें साडे तीन हाथ चौड़ी हैं। वेदी पर भगवान के चरण-चिन्ह बने हुए हैं। मन्दिर के ऊपर डबल शिखर है। बड़े मन्दिर के निकट छोटा शिखरबन्द दिगम्बर जैन मन्दिर है। इसमें तीन प्राचीन चरण-युगल

बने हुए हैं। इस मन्दिर से आगे एक शिला के नीचे चरण बने हुए हैं।

हिन्दू जनता में यह विश्वास प्रचलित है कि इसी मन्दराचल के चारों ओर वासुकि नाग को लपेट कर उससे समुद्र मन्थन किया गया था। पहाड़ के चारों ओर वासुकि नाग की रगड़ के चिन्ह भी बड़े कौशल से बना दिये गये हैं।

किन्तु हिन्दू पुराणों—जैसे वाराह पुराण अ० १४३, वामन पुराण अ० ४४, महाभारत अनुशासन पर्व १६ और बन पर्व अ० १६२-१६४ के देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह मन्दराचल हिमालय में वदरिकाश्रम (वद्रीनाथ) के उत्तर में था। किन्तु पता नहीं, हिन्दू जनता में भागलपुर जिले के इस मन्दारगिरि को मन्दराचल मानने की गलत धारणा कबसे चल पड़ी।

इनके शासन काल में अचल बलभद्र, द्विपृष्ठ नारायण और तारक नामक प्रति नारायण हुवे।

*

१३. भगवान विमलनाथ

पूर्व भव—

धातकीखण्ड द्वीप में मेरु पर्वत से पश्चिम की ओर सीता नदी के दक्षिण तट पर रम्यकावती नामक एक देश था। उसके महानगर में पद्मसेन नामक राजा राज्य करता था। नीति शास्त्र में स्वदेश और परदेश ये विभाग किये गये हैं। उनके अर्थ का निश्चय करने में वह अनुपम था। प्रजा न्याय का कभी उलंघन नहीं करती थी और राजा प्रजा का उलंघन नहीं करता था। धर्म, अर्थ और काम ये त्रिवर्ग राजा का उलंघन नहीं करते थे और त्रिवर्ग परस्पर एक दूसरे को उलंघन नहीं करते थे।

एक दिन राजा पद्मसेन वन में गया। वहां सर्वगुप्त केवली विराजमान थे। राजा ने उनके दर्शन किये और उनका कल्याणकारी उपदेश सुना इससे उसके मन में संसार से विराग हो गया। उसने अपने पुत्र पद्मनाभ को राज्य सौंप दिया और मुनि-दीक्षा लेकर तप करने लगा। उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन करके उन पर दृढ प्रत्यय किया। एवं सोलह कारण भावनाओं का निरतर चिन्तन करने से उसे तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो गया। अन्त समय में चार आराधनाओं का आराधन करके सहस्रार स्वर्ग में इन्द्र पद प्राप्त किया।

गर्भ कल्याणक—

भरत क्षेत्र में काम्पिल्य नगर के स्वामी कृतवर्मा राज्य करते थे जो ऋषभदेव भगवान के वशज थे, इक्ष्वाकु वशी थे। जयश्यामा उनकी पटरानी थी। सहस्रार स्वर्ग का वह इन्द्र जब आयु पूर्ण करके महारानी के गर्भ में आने वाला था, उससे छह माह पूर्व से भगवान के स्वागत में इन्द्र की आज्ञा से कुवेर ने काम्पिल्य नगर और राजप्रासाद में रत्न-वर्षा प्रारम्भ कर दी। महारानी एक रात को सुख-निद्रा का अनुभव कर रही थी, तभी उन्होंने रात्रि के अंतिम प्रहर में सोलह स्वप्न देखे और बाद में मुखकमल में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। यह ज्येष्ठ कृष्णा दशमी का दिन था और उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र था, जब सहस्रार स्वर्ग के उस इन्द्र के जीव ने माता के गर्भ में प्रवेश किया।

प्रात: काल उठकर महारानी पतिदेव के पास पहुंची और उनसे रात्रि में देखे हुए स्वप्नों की चर्चा करके उनका फल जानना चाहा। महाराज ने विचार कर कहा-देवी ! तुम्हारे गर्भ में त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर प्रभु अवतरित हुए हैं। रानी स्वप्नों के फल सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई। देवों और इन्द्रों ने आकर भगवान के गर्भ कल्याणक की पूजा की तथा वे माता-पिता और भगवान को नमस्कार करके वापिस चले गये।

महारानी जयश्यामा का न्याय

एक दिन कम्पिला के उद्यान में एक दम्पति ठहरे। लम्बा मार्ग तय करके आये थे। पति-पत्नी दोनो थके हुए थे। लेटते ही गहरी नींद आ गई। प्रात: काल होने पर पति की नींद खुली। उसने आँखे खोलकर देखा तो उसके आश्चर्य की सीमा नही रही, उसके निकट दो स्त्रियां थी। दोनों का रूप-रंग, वस्त्र आभूषण सभी कुछ एक से थे। पति अपनी वास्तविक पत्नी को पहचानना चाहता था किन्तु पहचानने का कोई उपाय नही था। वह एक पत्नी व्रती था। पर-स्त्री के संसर्ग से अपनी रक्षा चाहता था। किन्तु एक ही रंग रूप की दो स्त्रिया में से अपनी पत्नी को वह पहचानने कैसे ? आखिर उसने राजा से न्याय कराने का निश्चय किया।

पथिक दोनों स्त्रियो को लेकर राजदरबार में पहूंचा। महाराज सुकृतवर्मा सिहासन पर विराजमान थे। उनके वाम पार्श्व में उनकी प्राण-वल्लभा जयश्यामा बैठो हुई थी। महारानी के मुख पर अलौकिक कान्ति थी। दरबार लगा हुआ था। पथिक ने महाराज को सविनय प्रणिपात करते हुए निवेदन किया— 'महाराज ! आप न्यायावतार हैं। लोक में आपके निष्पक्ष न्याय की ख्याति फैल रही है। मुझे भी न्याय प्रदान करें।' महाराज ने पूछा-आयुष्मन् तुम्हें क्या कष्ट है ? पथिक हाथ जोड़कर बोला प्रभु ! मैं परदेशी हूं। मैं कल रात को कम्पिला के बाह्य उद्यान के मठ में ठहरा था। साथ में मेरी पत्नी थी। किन्तु प्रात: काल उठने पर पत्नी जैसी ही रंग रूप वाली एक और स्त्री को देख कर मैं निश्चय नहीं कर पा रहा हूं कि मेरी वास्तविक पत्नी कौन सी है। राजन् ! मेरा न्याय कीजिये और मेरी पत्नी मुझे दिला दीजिये। पर-स्त्री मेरे लिये भगिनी और सुता के समान है।

राजा ने दोनों स्त्रियों को देखा। दोनों में तिल मात्र भी अन्तर नहीं था। दरबारियों ने भी देखा। सभी हैरान थे। राजा भी कोई निर्णय नहीं कर पा रहे थे। महारानी जयश्यामा ने महाराज की मन: स्थिति को

भांप लिया। वे बोलीं-'आर्यपुत्र ! यदि आप अनुमति दें तो मैं इन दोनों स्त्रियों का न्याय कर दूँ'। महाराज सहर्ष बोले-'देवी ! न्याय करके अवश्य मेरी सहायता करिये।' रानी ने क्षण भर में परिस्थिति भांप ली। वे समझ गई कि इनमें एक देवी है अथवा विद्याधारी है, जो बहुरूपिणी विद्या जानती है। उसने अपने विद्या-बल से यह समान रूप बना लिया है। यह निश्चय होते ही वे बोलीं-अपने स्थान पर ही खड़ी रह कर तुम दोनों में से जो सिंहासन को छूलेगी, वही इस युवक की पत्नी मान ली जायगी।

असली पत्नी इस फैसले से भयभीत हो गयी। निराशा के कारण उसके नेत्रों में आंसू छलछला आये। किन्तु मायाविनी ! उसने बिना विलम्ब किये अपना हाथ बढ़ाया और राजसिंहासन का स्पर्श कर लिया। महारानी ने निर्णय दिया—युवक ! तुम्हारी पत्नी तुम्हारे निकट खड़ी है। सिंहासन का स्पर्श करने वाली मायाविनी है'। मायावनी सुनकर बड़ी लज्जित हुई। उपस्थित जनों ने महारानी के इस नीर-क्षीर-न्याय की तुमुल हर्ष के साथ सराहना की।

जन्म-कल्याणक—

जबसे भगवान गर्भ में आये थे, परिवार और जनता में हर्ष की वृद्धि हो रही थी। नौ माह पूर्ण होने पह माघ शुक्ला चतुर्दशी के दिन अहिर्बुघ्न योग में रानी जयश्यामा ने तीन ज्ञान के धारी, तीन लोक के स्वामी भगवान को जन्म दिया। देवो और इन्द्रों ने आकर भगवान को सुमेरु पर्वत पर लेजाकर उनका जन्माभिषेक किया। इन्द्र ने उनका नाम विमलनाथ रक्खा। उनके शरीर की कान्ति स्वर्ण के समान थी। उनके पैर में सूअर का चिह्न था।

दीक्षा-कल्याणक—

भगवान का कुमार काल व्यतीत होने पर उनका विवाह हुआ और राज्याभिषेक हुआ। उनके सुशासन से जनता की सुख-समृद्धि में निरन्तर अभिवृद्धि होती रही। एक दिन भगवान विमलनाथ हेमन्त ऋतु में प्रकृति की शोभा का आनन्द ले रहे थे। चारों ओर बर्फ पड़ रही थी। किन्तु तभी देखा कि सूर्य के ताप से बर्फ पिघलने लगी। बात साधारण थी। किन्तु प्रभु के मन में इस घटना की प्रतिक्रिया दूसरे ही रूप में हुई। वे विचार करने लगे-बर्फ जमी हुई थी, अब वह पिघल रही है। यह क्षणभगुर है। सभी कुछ क्षणभंगुर है इन्द्रिय-भोग भी क्षणभंगुर हैं और मैं मोहवश अब

तक इनमें उलझा हुआ हूं। मुझे तो स्थायी सुख पाना है। इन्द्रिय-सुख का त्याग करके ही वह मिल सकेगा।

भगवान इस प्रकार विचार कर ही रहे थे, तभी लौकान्तिक देवों ने आकर उनका स्तवन किया और उनके विचारों की सराहना की। देवों ने आकर भगवान के दीक्षा कल्याणक के समय होने वाले अभिषेक का उत्सव किया। फिर देवो द्वारा घिरे हुए भगवान देवदत्ता नाम की पालकी में आरुढ़ होकर सहेतुक वन में गये और वहां दो दिन के उपवास का नियम लेकर माघ शुक्ला चतुर्थी के दिन सायकाल के समय छब्बीसवें उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा लेली। भगवान को उसी समय मन:पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया।

केवलज्ञान-कल्याणक—

भगवान आहार के निमित्त नन्दनपुर नगर में पहुंचे। वहाँ राजा कनकप्रभ ने उन्हें आहार-दान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये। भगवान आहार के पश्चात् विहार कर गये। वे घोर तपस्या करने लगे। इस प्रकार तपस्या करते हुए जब तीन वर्ष बीत गये, तब वे अपने दीक्षा-वन में दो दिन के उपवास का नियम लेकर एक जामुन के वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न हो गये। तभी उन्हें माघ शुक्ला षष्ठी के दिन सायं काल के समय अपने दीक्षा-ग्रहण के नक्षत्र में चार घातिया कर्मो का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त हो गया। तभी इन्द्र और देव आये। देवों ने अष्ट प्रातिहार्यो का वैभव प्रगट किया। समवसरण की रचना की। भगवान गन्धकुटी में कमलासन पर विराजमान हुए। उसी समय उनकी दिव्य ध्वनि खिरी। यही उनका धर्मचक्र प्रवर्तन कहलाया।

भगवान का परिकर—

भगवान के मन्दर आदि पचपन गणधर थे। ११०० पूर्वधारी, ३६५३० शिक्षक, ४८०० अवधिज्ञानी, ५५०० केवलज्ञानी, ६००० विक्रिया ऋद्धिधारी, ५५०० मन:पर्ययज्ञानी, ३६०० वादी थे। इस प्रकार उनके संघ में कुल मुनि ६८००० थे। पद्मा आदि १०३००० अर्जिकायें थीं। २००००० श्रावक और ४००००० श्राविकायें थीं।

निर्वाण कल्याणक—

भगवान ने आर्यक्षेत्रों में विहार करके धर्म का उपदेश दिया। जब

एक माह की आयु अवशिष्ट थी, तब वे सम्मेदशिखर पहुंचे और एक माह का योग-निरोध किया। आठ हजार छह सौ मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण किया। उन्होने आषाढ कृष्णा अष्टमी के दिन उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र में प्रातः काल के समय मोक्ष प्राप्त किया। तभी सौधर्म आदि इन्द्रों और देवों ने आकर भगवान का अन्तेष्टि संस्कार किया और भगवान की स्तुति की।

उसी समय से भगवान की यह निर्वाण-तिथि-आषाढ़ कृष्णा अष्टमी लोक में कालाष्टमी के नाम से पूज्य हो गई।

यक्ष-यक्षिणी—

भगवान का सम्मुख यक्ष और वैरोटनी यक्षिणी है।

कम्पिला—

भगवान विमलनाथ की जन्म-नगरी कम्पिला उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले में कायमगंज तहसील में एक छोटा-सा गांव । यह उत्तर रेलवे की अछनेरा-कानपुर शाखा के कायमगज स्टेशन से पांच मील दूर है। सड़क पक्की है। स्टेशन पर ताँगे और बस्ती में बसें मिलती है।

इस नगरी में भगवान विमलनाथ के गर्भ जन्म, दीक्षा और केवल-ज्ञान थे चार कल्याणक हुए थे। जब सौधर्मेन्द्र ने सुमेरु पर्वत पर भगवान के चरण-तल में शूकर-चिह्न को देखा तो उनका चिह्न शूकर घोषित कर दिया। रूढ़िप्रिय लोगों ने इस चिह्न के कारण कम्पिला को शूकर क्षेत्र घोषित[1] कर दिया। भगवान की प्रथम कल्याणी वाणी इसी स्थान पर प्रगट हुई थी।

आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव, पार्श्वनाथ, महावीर तथा अन्य तीर्थंकरों का समवसरण यहां आया था।

कम्पिला भारत की प्राचीन सांस्कृतिक नगरी थी। भगवान ऋषभ-देव ने जिन ५२ जनपदों की रचना की थी, उनमें एक पांचाल नाम का जनपद भी था, उसी पाँचाल जनपद के दो भाग हो गये थे—अहिच्छत्र और कम्पिला। अहिच्छत्र उत्तर पांचाल की राजधानी थी और कम्पिला दक्षिण पांचाल की। महाभारत काल में उत्तर पांचाल के शासक द्रोण थे और दक्षिण पांचाल के शासक द्रुपद थे। यहीं पर पाण्डु-पुत्र अर्जुन ने लक्ष्य

---

१. विविध तीर्थकल्प

वेध कर द्रुपद सुता द्रौपदी के साथ विवाह किया था।

इस कम्पिला या काम्पिल्य के निकट पिप्पलगांव में रत्नप्रभ राजा ने एक विशाल सरोवर और जिनमन्दिर का निर्माण कराया था। आज कल वह पिप्पलगांव कम्पिला से १६-१७ मील दूरी पर अलीगंज तहसील में है।

श्रीमद्भागवत में विष्णु भगवान के २२ अवतारों का वर्णन मिलता है। उनमें द्वितीय अवतार का नाम बराहावतार अथवा शूकरावतार बताया गया है। हिन्दू जनता उस क्षेत्र को, जहां यज्ञ पुरुष अर्थात विष्णु भगवान ने अवतार लिया था, शूकर क्षेत्र मानती है। शूकर क्षेत्र की पहचान आजकल सोरों से की जाती है। यह स्थान कासगंज (जिला एटा) से ९ मील है। विविध तीर्थकल्प के अनुसार जनता ने विमलनाथ के शूकर चिन्ह के कारण कम्पिला को शूकर क्षेत्र मान लिया था। किन्तु आजकल सोरों को शूकर क्षेत्र माना जाता है। ऐसा लगता है, विमलनाथ के शूकर चिन्ह और विष्णु के शूकरावतार में एकरूपता है। हिन्दू पुराणों में तथा श्रीमद्भागवत (तृतीय स्कन्ध अध्याय चौदह) में शूकरावतार की कथा में बताया गया है कि जब पृथ्वी रसातल को चली गई, तब विष्णु भगवान ने उसके उद्धार के शूकरावतार लिये लिया।

जैन पुराण ग्रन्थों में विमलनाथ भगवान का चरित्र वर्णन करते हुए बताया है कि उस समय पाप की वृद्धि हो गई थी। भगवान विमलनाथ ने पापी पुरुषों का उद्धार किया।

उक्त दोनों कथाओं में गहराई से झांक कर देखें तो कोई अन्तर प्रतीत नहीं होगा। हिन्दू पुराणों में आलंकारिक शैली द्वारा कथन किया गया है। यदि अलङ्कार योजना को निकाल दिया जाय तो हिन्दू और जैन पुराणों के कथनों में एकरूपता ही मिलेगी और तब हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होगी कि कम्पिला ही वास्तव में शूकर क्षेत्र है, भगवान विमलनाथ ही वस्तुत बराहावतार है और उन्होंने ही पाप-पक में डूबती हुई पृथ्वी अर्थात् पृथ्वी पर रहने वालों का उद्धार किया

भगवान विमलनाथ के समय में ही तीसरे धर्म नामन्द बलभद्र, स्वयम्भू नारायण मधुनामक प्रतिनारायण हुवे।

★

१४. भगवान अनन्तनाथ

पूर्व भव—

धातकी खण्ड द्वीप के पूर्व मेरु से उत्तर की ओर अरिष्ट नामक एक नगर था। उस नगर के राजा का नाम पद्मरथ था। उसने दीर्घकाल तक सांसरिक भोग भोगे। एक दिन वह स्वयंप्रभ जिनेन्द्र के चरणों में पहुंचा। वहां उसने जिनेन्द्र प्रभु का उपदेश सुना। उसके मन में वैराग्य की भावनायें उदित हुई, राज्य, परिवार और शरीर के प्रति उसकी आसक्ति जाती रही। उसने अपने पुत्र धनरथ को बुलाकर राज्य सौंप दिया और वह मुनि हो गया। उसने घोर तप किया, ग्यारह अङ्गों का अध्ययन किया और निरन्तर सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन किया। फलत: उसे तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध हो गया। अन्त में सल्लेखना धारण करके शरीर छोड़ा और अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में इन्द्र पद प्राप्त किया।

गर्भ कल्याणक—

अयोध्या में इक्ष्वाकुवंशी काश्यप गोत्रीय राजा सिंहसेन राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम जयश्यामा था। देवो ने उनके घर पर रत्न-वृष्टि की। एक दिन महारानी ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह शुभ स्वप्न देखे। प्रातः होने पर उन्होंने अपने पति से उन स्वप्नों का फल पूछा पति ने विचार कर उत्तर दिया—देवी ! तुम्हारे गर्भ में त्रिलोकपूज्य तीर्थ-कर अवतार लेंगे। उस दिन कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा और रेवती नक्षत्र था, जब अच्युत स्वर्ग से इन्द्र का जीव अपनी आयु पूर्ण करके उनके गर्भ में आया। उसी समय देवों ने गर्भ कल्याणक का अभिषेक करके वस्त्र माला और आभूषणों से महाराज सिंहसेन और महारानी जयश्यामा की पूजा की।

जन्म कल्याणक—

गर्भ सुख से बढ़ने लगा। नौ माह व्यतीत होने पर माता ने ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी के दिन पूषा योग में पुण्यशाली पुत्र उत्पन्न किया। उसी समय इन्द्रों और देवों ने आकर पुत्र का सुमेरु पर्वत पर अभिषेक करके जन्म कल्याणक महोत्सव मनाया। इन्द्र ने पुत्र का नाम अनन्तनाथ रक्खा।

उनका रंग देदीप्यमान सुवर्ण के समान था। उनके पैर में सेही का चिन्ह था।

दीक्षा कल्याणक—

बालक क्रम से वृद्धि को प्राप्त हुआ। जब भगवान यौवन अवस्था को प्राप्त हुये, तब पिता ने पुत्र का विवाह कर दिया और उसे राज्य-भार सौंप दिया। राज्य करते हुए जब बहुत काल बीत गया, तब एक दिन उल्कापात देखकर उन्हें संसार से वैराग्य हो गया। वे ससार की अनित्य दशा को देखकर विचार करने लगे—इस अनित्य संसार में स्थिर केवल अपना आत्म-स्वरूप है। मैं अबतक अनित्य के पीछे भागता रहा, कभी आत्मस्वरूप की प्राप्ति का प्रयत्न नही किया। वे ऐसा विचार कर ही रहे थे, तभी लौकान्तिक देव आये। उन्होंने भगवान की वन्दना स्तुति की और उनके विचारो की सराहना की।

भगवान ने अपने पुत्र अनन्तविजय को राज्य-भार सौंप दिया और देवोपनीत सागरदत्त पालकी में विराजमान होकर सहेतुक वन में गये। वहा बेला का नियम लेकर ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी के दिन सायकाल के समय एक हजार राजाओ से साथ दीक्षित हो गये। दीक्षा लेते ही उन्हें मनः पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया, उन्होने सामायिक सयम धारण कर लिया और ध्यानलीन हो गये। दो दिन पश्चात् वे आहार के लिये साकेतपुरी में पधारे वहां स्वर्ण के समान कान्ति वाले विशाख नामक राजा ने भगवान को आहार देकर असीम पुण्य उपार्जन किया। देवों ने पचाश्चर्य करके उसकी सराहना की। आहार लेकर भगवान विहार कर गये।

केवलज्ञान कल्याणक—

आपने दो वर्ष तक तपश्चरण किया, तब आपको अश्वत्थ वृक्ष के नीचे उसी सहेतुक बन में चैत्र कृष्णा अमावस्या को सायंकाल के समय रेवती नक्षत्र में सकल ज्ञेय-ज्ञायक केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। उसी समय देवों ने ज्ञान कल्याणक की पूजा की। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवसरण की रचना की। उसमें सिंहासन पर बिराजमान होकर भगवान की दिव्य ध्वनि बिखरी और भगवान ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया।

भगवान का संघ—

भगवान के संघ में जय आदि ५० गणधर थे। १००० पूर्वधारी,

३२०० वादी, ३६५०० शिक्षक, ४३०० अवधिज्ञानी, ५००० केवलज्ञानी, ८००० विक्रिया ऋद्धिधारी, ५००० मन: पर्ययज्ञानी, इस प्रकार कुल ६६००० मुनि उनकी पूजा करते थे। सर्वश्री आदि १०८००० आर्यिकायें थी। २००००० श्रावक और ४००००० श्राविकायें थीं।

निर्वाण कल्याणक

भगवान अनन्तनाथ ने बहुत समय तक विभिन्न देशों में, बिहार करके भव्य जीवों को अपने उपदेश द्वारा सन्मार्ग पर लगाया। अन्त में सम्मेद शिखर पर जाकर उन्होंने बिहार करना छोड़ दिया और एक माह का योग-निरोध कर छह हजार एक सौ मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया तथा चैत्र कृष्णा अमावस्या के दिन रात्रि के प्रथम भाग में निर्वाण प्राप्त किया। देवों ने आकर भगवान का अन्तिम संस्कार किया और पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी

भगवान अनन्तनाथ के सेवक यक्ष का नाम पाताल और यक्षिणी का नाम अनन्तमती था।

इनके समय में ही चौथे बलभद्र सुप्रभ, नारायण पुरुषोत्तम व मधु सूदन नामक प्रति नारायण हुवे।

अनन्त चतुर्दशी व्रत—

सोमशर्मा नामक एक ब्राह्मण था। वह रोगी, अपाहिज और दरिद्री था। वह देश-विदेश में फिरा, किन्तु जहा जाता, सब जगह उसे फटकार ही मिलती थी। कोई उसका आदर नही करता था और न उसे कोई धन ही देता था। एक दिन भगवान अनन्तनाथ का समवसरण देखकर और वहां राजा, रंक, देव और मनुष्यों को जाते देखकर वह भी समवसरण में चला गया। वहां उसने भगवान का अद्भुत वैभव देखा। इन्द्र भगवान के ऊपर चंवर ढोल रहे थे। वृक्षों पर षट् ऋतुओं के फल-फूल लहलहा रहे थे। शेर और हिरन, सर्प-नेबला, बिल्ली-चूहा जैसे जाति-विरोधी जीव बड़े प्रेम से पास-पास बैठे हुए थे। देवों और मनुष्यो की अपार भीड़ लगी हुई थी। चारों ओर शान्ति और प्रेम का साम्राज्य था। समवसरण की अद्‌भुत महिमा को देखकर सोमशर्मा साहस करके आगे बढ़ा और भगवान को नमस्कार करके विनयपूर्वक बोला—भगवन्! मैं बड़ा भाग्यहीन, दीन,

दरिद्री हूँ, रोगी हूं, तिरस्कृत हूं। कहीं पेट भरने लायक भीख भी नहीं मिलती। कोई ऐसा उपाय बताइये, जिससे मेरे कष्ट दूर हो जायें।

उसकी प्रार्थना सुनकर भगवान के मुख्य गणधर जय बोले—भव्य ! तुम भाद्रपद शुक्ला १४ को स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहन कर भगवान अनन्तनाथ का चौदह कलशों से अभिषेक करो, पूजन करो। उपवास रक्खो। रात्रि को भगवान का कीर्तन करो। इस प्रकार चौदह वर्ष तक उपवास आदि करो। जब चौदह वर्ष समाप्त हो जायें, तब मन्दिर में छत्र, चंवर, सिंहासन, कलश आदि चौदह वस्तुयें चढाकर अनन्त चतुर्दशी व्रत का उद्यापन करो। यदि उद्यापन की शक्ति न हो तो दूने व्रत करो अर्थात अट्ठाईस वर्ष तक इसी प्रकार व्रत करो। अन्त समय में समाधिमरण धारण करो। इससे तुम्हारी दरिद्रता, रोग, शोक सब दूर हो जायेंगे।

सोमशर्मा ने गणधरदेव के कथानानुसार किया। मरकर वह चतुर्थ स्वर्ग में महा विभूतिवान् देव हुआ। आयु पूर्ण होने पर विजय नगर के सम्राट मनोकुम्भ का पुत्र अरिंजय हुआ। यह राजकुमार अत्यन्त रूपवान, गुणवान और बलवान था और यह विपुलाचल पर भगवान महावीर के दर्शनों के लिये भी गया था।

★

१५. भगवान धर्मनाथ

पूर्व भव—

धातकी खण्ड द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में वत्स नामक एक देश था। उसमें सुसीमा नामक एक नगर था वहां राजा दशरथ राज्य करता था। उसके पास बुद्धि और बल था, भाग्य उसके पक्ष में था। इसलिये उसने तमाम शत्रुओं को अपने वश में कर लिया था। अत: वह शान्तिपूर्वक राज्य करता था। एक बार बैशाख शुक्ला पूर्णिमा को सब लोग उत्सव मना रहे थे। तभी चन्द्रग्रहण पड़ा। उसे देखकर राजा का मन भोगों से एकदम उदास हो गया। उसने अपने पुत्र महारथ का राज्याभिषेक करके संयम धारण कर लिया। उसे ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, सोलह कारण भावनाओं का सतत चिन्तन किया, जिससे उसे तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो गया। अन्त में समाधिमरण करके वह सर्वार्थ सिद्धि विमान में अहमिन्द्र हुआ। वहां उसने तेतीस सागर तक सुख का भोग किया।

गर्भ कल्याणक—

रत्नपुर नगर के अधिकारी महाराज भानु थे। वे कुरुवंशी और काश्यपगोत्री थे। उनकी महादेवी का नाम सुप्रभा था। देवों ने भगवान के गर्भावतार से छह माह पूर्व से रत्नवृष्टि आरम्भ की। महारानी ने बैशाख शुक्ला त्रयोदशी को रेवती नक्षत्र में प्रात: काल के समय सोलह स्वप्न देखे और एक विशाल हाथी मुख में प्रवेश करते हुए देखा। प्रात: काल उठकर वे अपने पति के पास पहुची। उन्होने रात में देखे हुए स्वप्न सुनाकर उनसे इन स्वप्नो का फल पूछा। महाराज ने अवधिज्ञान से देख-कर बताया—देवी! तुम्हारे गर्भ में तीर्थंकर भगवान आने वाले हैं। सुनकर महारानी को बड़ा हर्ष हुआ। तभी सर्वार्थ सिद्धि का अहमिन्द्र आयु पूर्ण होने पर महारानी के गर्भ में अवतीर्ण हुआ। इन्द्रों ने आकर गर्भ कल्याणक का उत्सव किया।

जन्म कल्याणक—

नौ माह व्यतीत होने पर माघ शुक्ला त्रयोदशी को पुष्य नक्षत्र में महारानी ने तीन ज्ञान का धारक पुत्र प्रसव किया। उसी समय इन्द्रों और

देवों ने आकर सद्यः जात बालक को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के जल से जन्माभिषेक किया और भगवान का जन्म कल्याणक महोत्सव मनाया। इन्द्र ने बालक का नाम धर्मनाथ रक्खा। उनके पैर में वज्र का चिन्ह था।

दीक्षा कल्याणक—

जब भगवान यौवन दशा में पहुंचे, तब पिता ने उनका विवाह कर दिया और राज्याभिषेक कर दिया। बहुत समय तक उन्होंने राज्य-सुख भोगा। एक दिन उल्कापात देखकर उन्हें वैराग्य हो गया। उन्हें अब तक का जीवन भोगों में व्यतीत करने का बड़ा पश्चाताप हुआ। उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब क्षणभर भी इस अमूल्य जीवन को सांसरिक भोगों में नष्ट न करके आत्म-कल्याण करूँगा। प्रभु का ऐसा निश्चय जानकर लौकान्तिक देव वहां आये और भगवान की वन्दना करके प्रभु के विचारों को सराहते हुए अपने स्थान को वापिस चले गये। भगवान ने अपने पुत्र सुधर्म को राज्य देकर नागदत्ता नामक पालकी में आरूढ़ होकर दीक्षा के लिये गमन किया। उन्होंने दो दिन के उपवास का नियम लेकर माघ शुक्ला त्रयोदशी के दिन सायंकाल के समय पुष्य नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा लेली। दीक्षा लेते ही उन्हें मनः पर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया।

वे आहार के लिये पाटलिपुत्र नामक नगरी में गये। वहां धन्यषेण नामक राजा ने उत्तम पात्र के लिये आहार दान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये

केवलज्ञान कल्याणक—

भगवान ने एक वर्ष तक तपस्या की। फिर वे बिहार करते हुए दीक्षा वन में पधारे। वहां सप्तच्छद वृक्ष के नीचे बैठकर और दो दिन के उपवास का नियम लेकर योग धारण कर लिया और पौष शुक्ला पूर्णिमा के दिन सायंकाल के समय पुष्य नक्षत्र में उन्हें लोकालोक प्रकाशन केवल-ज्ञान प्रगट हुआ। देवों ने आकर केवलज्ञान कल्याणक की पूजा की।

इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवसरण की रचना की। वहां गन्धकुटी में सिंहासन पर विराजमान होकर भगवान की प्रथम दिव्य ध्वनि खिरी और इस तरह उन्होंने रतनपुरी में धर्म-चक्र प्रवर्तन किया।

भगवान का परिकर—

भगवान धर्मनाथ के संघ में अरिष्टसेन आदि ४३ गणधर थे। ९११ पूर्वधर,

४०७०० शिक्षक, ३६०३ अवधिज्ञानी, ४५०० केवलज्ञानी, ७००० विक्रिया ऋद्धिधारी, ४५०० मनः पर्ययज्ञानी और २८०० वादी थे। इस प्रकार उनके संघ में मुनियों की कुल संख्या ६४००० थी। सुव्रता आदि ६२४०० आर्यिकायें थीं। २००००० श्रावक और ४००००० श्राविकायें थीं।

निर्वाण कल्याणक—

भगवान विभिन्न आर्य देशों में विहार करके धर्मोपदेश द्वारा भव्य जीवों का कल्याण करते रहे। अन्त में वे विहार बन्द करके सम्मेद शिखर पहुंचे। वहां एक माह का योग निरोध करके आठ सौ नौ मुनियों के साथ ध्यानारूढ़ हुए तथा ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थी के दिन रात्रि के अन्तिम भाग में पुष्य नक्षत्र में निर्वाण प्राप्त किया। उसी समय देवों और इन्द्रों ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी—

भगवान धर्मनाथ के यक्ष का नाम किन्नर और यक्षिणी का नाम परभृति था।

रतनपुरी—

रतनपुरी कल्याणक क्षेत्र है। इस नगर में भगवान धर्मनाथ के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवल ज्ञान कल्याणक हुए थे। यह क्षेत्र जिला फैजाबाद में अयोध्या से बाराबंकी वाली सड़क पर १५ मील है। फैजाबाद से सिटी बस मिलती है। रौनाही के चौराहे पर उतरना चाहिए। सड़क से गांव डेढ़ मील है। कच्चा मार्ग है। गाँव का नाम रौनाही है। सरयू नदी के तट पर दो दिगम्बर जैन मन्दिर हैं। एक मन्दिर में मूर्तियां हैं। कहते हैं, यहां भगवान का जन्म कल्याणक हुआ था। दूसरे मन्दिर में चरण विराजमान हैं। कहा जाता है, यहां भगवान का गर्भ कल्याणक हुआ था।

इनके समय में ही तीसरे चक्रवर्ती मघवा व चौथे चक्रवर्ती सन्त कुमार हुवे। इसके अलावा पांचवे बलभद्र सुदर्शन, पुरुष सिंह नारायण व मधुक्रीड प्रतिनारायण हुवे।

*

१६. भगवान शांतिनाथ

पूर्व भव—

यहां भगवान शान्तिनाथ के पूर्व के नौ भवों की कथा दी जा रही है।

भगवान महावीर का जीव जब त्रिपृष्ठ नामक प्रथम नारायण था, उस समय की यह कथा है। त्रिपृष्ठ ने अपनी पुत्री ज्योतिप्रभा का विवाह रथनूपुर के राजकुमार अमिततेज के साथ कर दिया और अमिततेज की बहन सुतारा त्रिपृष्ठ के पुत्र श्रीविजय के साथ विवाही गई। जब त्रिपृष्ठ नारायण का देहान्त हो गया और भाई के शोक में बलभद्र विजय ने दीक्षा लेली, तब श्रीविजय पोदनपुर का राजा बना। एक दिन एक निमित्तज्ञानी ने आकर कहा कि पोदनपुर के राजा के मस्तक पर आज से सातवें दिन वज्र गिरेगा। सुनकर सबको चिन्ता हुई। तब मंत्रियों ने उपाय सोचा– निमित्त-ज्ञानी ने किसी राजा का नाम तो लिया नहीं। जो सिंहासन पर बैठा होगा उसी पर तो वज्र गिरेगा, यह विचार कर उन्होंने सिंहासन पर एक यक्ष-प्रतिमा रख दी। ठीक सातवें दिन यक्ष-मूर्ति पर भयंकर वज्र गिरा। राजा बच गया। राजा सुतारा को लेकर वन-विहार के लिये गया। वे दोनों वन में बैठे हुए थे, तभी आकाश मार्ग से चमरचंचपुर का राजकुमार अशनिघोष विद्याधर उधर से निकला। उसनेसुतारा को देखा तो वह उस पर मोहित हो गया। तब वह हरिण का रूप बनाकर आया और छल से श्रीविजय को दूर ले गया। फिर वह श्रीविजय का रूप धारण करके आया और सुतारा से बोला—'प्रिये! सूर्य अस्त हो रहा है, चलो लौट चलें।' सुतारा उसके साथ विमान में चल दी। मार्ग में अशनिघोष ने अपना रूप और उद्देश्य प्रगट किया। तब सुतारा जोर-जोर से विलाप करने लगी।

जब श्रीविजय वापिस आया और सुतारा वहां नहीं मिली तो वह अत्यन्त कातर हो उठा। तभी एक विद्याधर ने उसे सुतारा के अपहरण का समाचार दिया। सुनते ही वह सीधा रथनूपुर पहुंचा और अमिततेज से सब बातें बताई। अमिततेज सुनकर अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा और सेना लेकर अशनिघोष पर जा चढ़ा। भयानक युद्ध हुआ। उसमें हारकर अशनिघोष वहां से भागा और नाभेयसीम पर्वत पर विजय तीर्थंकर का समवसरण देखकर उसमें जा घुसा। अमिततेज और श्रीविजय भी उसका पीछा करते हुए समवसरण में जा पहुंचे। किन्तु वहां का यह अलौकिक प्रभाव था कि न अशनिघोष के मन में भय के भाव थे और न अमिततेज और श्रीविजय

के मन में क्रोध के भाव रहे। तभी अशनिघोष की माता आसुरीदेवी ने सुतारा को लाकर उन दोनों को समर्पण किया और अपने पुत्र के अपराध की क्षमा माँगी।

सबने भगवान का उपदेश सुना और सबने यथायोग्य मुनिव्रत आर्यिका के व्रत अथवा श्रावक के व्रत लिये।

अमिततेज के प्रश्न करने पर भगवान ने सबके पूर्व भव बताते हुए कहा—तेरा जीव आगे होने वाले नौवे भव में पांचवा चक्रवर्ती और सोलहवाँ तीर्थंकर शान्तिनाथ होगा।

सुनकर अमिततेज को बड़ा हर्ष हुआ। भगवान को नमस्कार कर वे लोग अपने-अपने स्थान को लौट गये। अब उसकी प्रवृत्ति धर्म की ओर हो गई। वह निरन्तर दान, पूजा, व्रत उपवास करने लगा। यद्यपि उसे अनेक विद्यायें सिद्ध थीं और वह विजयार्थ पर्वत की दोनों श्रेणियों का एकछत्र सम्राट था, किन्तु धर्म-कार्यों में कभी प्रमाद नहीं करता था। किन्तु एक दिन उसने भोगों का निदान बन्ध किया।

जब दोनों की आयु एक मास शेष रह गई तो अपने-अपने पुत्रों को राज्य देकर वे नन्दन नामक मुनिराज के पास दीक्षा लेकर मुनि बन गये और अन्त में समाधिमरण करके तेरहवे स्वर्ग में अमित ऋद्धिधारी देव हुए।

आयु पूर्ण होने पर अमिततेज का जीव पूर्व विदेह क्षेत्र के वत्सकावती देश के राजा स्तिमितसागर की रानी वसुन्धरा के गर्भ से अपराजित नामक पुत्र हुआ और श्रीविजय का जीव उसी राजा की अनुमति नाम की रानी से अनन्तवीर्य नामक पुत्र हुआ। दोनों में परस्पर बड़ा प्रेम था। वे दोनो ही क्रमश: बलभद्र और नारायण थे। जब वे यौवन अवस्था को प्राप्त हुए तो पिता ने उनका विवाह कर दिया और बड़े भाई को राज्य-भार सौंपकर छोटे भाई को युवराज पद दे दिया। राज्य पाते ही उनका प्रभाव और तेज बढ़ने लगा।

उनकी राज्य-सभा में बर्बरी और चिलातिका नामक दो सुन्दर नर्तकियां थी। नृत्यकला में उनकी प्रसिद्धि सम्पूर्ण देश में व्याप्त थी। एक दिन वे दोनों नर्तकियों का नृत्य देखने में मग्न थे, तभी नारद पधारे, किन्तु उनका ध्यान नारद की ओर नहीं गया, अत: वे उनका उचित आदर नहीं कर सके। इतने में नारद आगबबूला हो गये और सभा से निकल गये। वे

सीधे शिवमन्दिर नगर के राजा दमितारि के पास पहुंचे। राजा ने उठकर उनकी अभ्यर्थना की और बैठने के लिये उच्चासन दिया। इधर-उधर की बातचीत होने के अनन्तर नारद ने उन नृत्यकारिणियों का जिक्र छेड़ा और कहा—महाराज ! वे तो ऐसी रत्न हैं, जो केवल आपकी सभा में ही शोभा पा सकती हैं। उनके कारण आपकी सभा की भी शोभा बढ़ेगी।

नारद तो चिनगारी छोड़कर चले गये। दमितारि का प्रभाव आधे देश पर था। वह प्रतिनारायण का ऐश्वर्य भोग रहा था। उसने दूत भेजकर दोनों भाइयों को आदेश दिया—तुम लोग अपनी नर्तकियों को दूत के साथ हमारे पास भेज दो।

राजा अपराजित ने दूत को सम्मानपूर्वक ठहराया और मंत्रियों से परामर्श किया। फलतः वे दोनों भाई नर्तकियों का वेष धारण करके दूत के साथ दमितारि की सभा में पहुंचे। वहां उन्होंने जो कलापूर्ण नृत्य दिखाया तो दमितारि बोला—'तुम हमारी पुत्री को नृत्यकला सिखला दो।' उन्होंने यह भी स्वीकार कर लिया। वे राजपुत्री कनक श्री को नृत्यकला सिखाने लगे। वहीं कनकश्री और अनन्तवीर्य का प्रेम हो गया। एक दिन दोनों भाई राजपुत्री को लेकर आकाश-मार्ग से चल दिये। जब अन्तःपुर के कञ्चुकी ने यह दुःसंवाद महाराज दमितारि को सुनाया तो वह अत्यन्त क्रुद्ध होकर सेना लेकर युद्ध करने चल दिया। मार्ग में ही दमितारि का दोनों भाइयों के साथ भयानक युद्ध हुआ। अपराजित सेना के साथ युद्ध करने लगा और अनन्तवीर्य दमितारि के साथ। अनन्तवीर्य प्रहारों से त्रस्त होकर दमितारि ने उस पर चक्र फेंका। किन्तु चक्र प्रदक्षिणा देकर उसके कन्धे पर ठहर गया। तब अनन्तवीर्य ने उसी चक्र से दमितारि का वध कर दिया। पश्चात् सभी विद्याधरों को जीतकर अपराजित ने बलभद्र पद धारण किया और अनन्तवीर्य ने नारायण पद। वे दोनों आनन्दपूर्वक बहुत काल तक राज्य-सुख का भोग करते रहे।

अनन्तवीर्य की मृत्यु होने पर अपराजित बहुत शोक करता रहा। फिर पुत्र को राज्य सौंपकर सम्पूर्ण आभ्यन्तर-बाह्य आरम्भ परिग्रह का त्याग कर संयम धारण कर लिया और समाधिमरण कर अच्युत स्वर्ग का इन्द्र हुआ। अनन्तवीर्य का जीव नरक और मनुष्यगति में जन्म लेकर अच्युत स्वर्ग का प्रतीन्द्र हुआ।

अच्युतेन्द्र आयु पूर्ण होने पर पूर्व विदेह क्षेत्र के रत्नसंचयपुर में राजा क्षेमंकर की कनकचित्रा नाम की रानी से वज्रायुध नामक पुत्र हुआ।

उसके उत्पन्न होने पर सभी को महान् हर्ष हुआ। ज्यों ज्यों वह बड़ा होता गया, उसके गुणों का सौरभ और यश चारो ओर फैलने लगा। तरुण होने पर पिता ने उसको युवराज बना दिया। अब वज्रायुध राज्य-लक्ष्मी और लक्ष्मीमती नामक स्त्री का आनन्दपूर्वक भोग करने लगा। उन दोनों से प्रतीन्द्र का जीव सहस्रायुध नामक पुत्र हुआ।

वज्रायुध अष्टांग सम्यग्दर्शन का निरतिचार पालन करता था। वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि था। एक दिन ऐशान स्वर्ग के इन्द्र ने धर्म-प्रेम के कारण वज्रायुध के सम्यग्दर्शन की निष्ठा की प्रशंसा की। इस प्रशंसा को विचित्रचूल नामक देव सहन नहीं कर सका और वह वज्रायुध की परीक्षा करने चल दिया। आकर उसने वज्रायुध से नाना भाँति के प्रश्न किये, किन्तु वज्रायुध ने आत्म-श्रद्धा के साथ देव को उत्तर दिये। उससे वह न केवल निरुत्तर ही हो गया, बल्कि उसे भी सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया। उसने अपना वास्तविक रूप प्रगट कर राजा की पूजा की और अपने आने का उद्देश्य प्रगट कर उनकी बहुत प्रशंसा की।

वज्रायुध के पिता क्षेमंकर तीर्थंकर थे। उन्हें राज्य करते हुए बहुत समय बीत गया। तब वे वज्रायुध का राज्याभिषेक करके दीक्षित हो गये और तपस्या करते हुये उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इन्द्र और देव उनके ज्ञान कल्याणक के उत्सव में आये और उनकी पूजा की। वे चिरकाल तक विहार करके भव्य जीवों का कल्याण करते रहे।

एक बार वज्रायुध अपनी रानियों के साथ वन-विहार के लिये गये वहां एक तालाब में वे रानियों के साथ जल-क्रीड़ा कर रहे थे, तभी किसी दुष्ट विद्याधर ने एक शिला से सरोवर को ढक दिया और वज्रायुध को नागपाश से बांध लिया। किन्तु वज्रायुध इससे जरा भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने हाथ की हथेली से शिला पर प्रहार किया, जिससे उसके शत शत खण्ड हो गए। वे फिर रानियों के साथ अपने नगर वापिस आ गये।

इसके कुछ काल बाद ही नौ निधियाँ और चौदह रत्न प्रगट हुए। उन्होंने दिग्विजय के लिये अभियान किया और कुछ ही समय में षट् खण्ड पृथ्वी को जीतकर वे चक्रवर्ती बन गए। वे चिरकाल तक भोग भोगते रहे। एक दिन उनके पौत्र मुनिराज कनकशान्ति को केवलज्ञान हो गया। उन्होंने तभी अपने पुत्र सहस्रायुध का राज्याभिषेक करके क्षेमंकर भगवान के पास जाकर दीक्षा लेली। दीक्षा लेकर वे सिद्धिगिरि पर्वत पर एक वर्ष का प्रतिमायोग का नियम लेकर ध्यानलीन हो गये। धीरे-धीरे उनके चरणों के

सहारे दीमकों ने बमीठें बना लिये और उनमें लताएँ उग आईं जो मुनिराज के शरीर पर चढ़ गईं। दो असुरों ने उनके ऊपर उपद्रव करने का प्रयत्न किया किन्तु रम्भा और तिलोत्तमा नामक दो देवियों ने उन्हें भगा दिया। फिर उन्होंने मुनिराज की पूजा की।

कुछ समय पश्चात् सहस्रायुध ने भी दीक्षा लेली और प्रतिमायोग का काल पूर्ण होने पर वे भी मुनिराज वज्रायुध के पास आ गये। दोनों ने वैभार पर्वत पर जाकर तपस्या की और सन्यासमरण कर वे दोनों ऊर्ध्व ग्रैवेयक के सौमनस विमान में अहमिंद्र हुए।

पूर्व विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश था। उसमें पुण्डरीकिणी नगरी थी। उस नगरी के शासक धनरथ थे। वज्रायुध का जीव ग्रैवेयक में आयु पूर्ण होने पर महाराज धनरथ की बड़ी रानी मनोहरा से मेघरथ नामक पुत्र पैदा हुआ और सहस्रायुध का जीव महाराज की दूसरी रानी मनोहरा से दृढरथ नामक पुत्र हुआ। दोनों पुत्रों की ज्यों ज्यों आयु बढ़ती गई, त्यों त्यों उनके गुणों में भी वृद्धि होती गई। जब वे पूर्ण युवा हो गये, तब पिता ने दोनों के विवाह कर दिये। मेघरथ को जन्म से ही अवधिज्ञान था और पिता तीर्थंकर थे। एक दिन महाराज धनरथ को संसार के सुखों से विरक्ति हो गई। तभी लौकान्तिक देवों ने आकर स्वर्गीय पुष्पों से उनकी पूजा की और उनके विचारों की सराहना करके देव-लोक को चले गये। तब महाराज धनरथ ने मेघरथ का राज्याभिषेक करके स्वयं संयम धारण कर लिया। तपस्या करते हुए उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। देवों ने आकर बड़े वैभव के साथ उनकी पूजा की। भगवान धनरथ विभिन्न देशों में विहार करते हुए उपदेश देने लगे।

एक दिन मेघरथ अपनी रानियों के साथ देवरमण उद्यान में बिहार के लिये गये। वे वहां चन्द्रकांत मणि की शिला पर बैठे विश्राम कर रहे थे। तभी उनके ऊपर से एक विद्याधर विमान में जा रहा था। किन्तु विमान रुक गया। इससे विद्याधर बड़ा कुपित हुआ। वह नीचे उतर कर आया। वह क्रोध के मारे उस शिलातल को उठाने के लिये प्रयत्न करने लगा। मेघरथ ने यह देखकर अपने पैर के अंगूठे से उस शिला को दबा दिया। इससे विद्याधर बुरी तरह उसके नीचे दब गया और करुण स्वर में चिल्लाने लगा। तब उसकी स्त्री आकर दीनतापूर्वक पति के प्राणों की भिक्षा मांगने लगी। मेघरथ उसकी विनय से द्रवित हो गये और अपना पैर उठा लिया। तब उस विद्याधर राजा सिंहरथ ने मेघरथ की पूजा की।

एक दिन महाराज मेघरथ उपवास का नियम लेकर आष्टान्हिक पूजा के पश्चात् उपदेश दे रहे थे। तभी एक भयाक्रान्त कबूतर उड़ता हुआ आया और उनकी गोद में बैठ गया। उसके पीछे एक गीध आया और खड़ा होकर बोला—महाराज मैं क्षुधा से पीड़ित हूं। यह कबूतर मेरा भक्ष्य है। यह मुझे दे दीजिये, अन्यथा मेरी मृत्यु निश्चित है।

मेघरथ ने जान लिया कि गीध नही बोल रहा है, बल्कि यह ज्योतिष्क देव बोल रहा है। गीधको बोलता देखकर दृढ़रथ को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—'आर्य ! यह गीध इस प्रकार कैसे बोल रहा है ?' तब मेघरथ कहने लगे—वस्तुतः कबूतर और गीध तो पक्षी ही हैं किन्तु गीध के ऊपर एक देव स्थित है। वह बोल रहा है। यह एक ज्योतिष्क देव है। वह एक दिन ऐशान स्वर्ग में गया था। वहाँ सभासद देव कह रहे थे कि इस समय पृथ्वी पर मेघरथ से बढ़कर दूसरा दाता नहीं है। मेरी प्रससा सुनकर इस देव को सहन नहीं हुई, अतः वह मेरी परीक्षा करने आया है। किन्तु जो मोक्ष मार्ग में स्थित है, वही पात्र है, वही दाता है। माँस देने योग्य पदाथ नहीं है और मांस की इच्छा करने वाला पात्र नहीं है और इसका देने वाला दाता नहीं है। इसलिये यह गीध दान का पात्र नही हैं और यह कबूतर शरणागत है, इसलिये यह देने योग्य नही है।

मेघरथ की यह धर्मयुक्त बात सुनकर वह ज्योतिष्क देव प्रसन्न हुआ और प्रगट होकर मेघरथ की प्रशंसा करके अपने स्थान को चला गया।

एक दिन मेघरथ अष्टान्हिका पर्व में पूजा करके उपवास धारण कर रात्रि में प्रतिमायोग से ध्यानारूढ थे। तभी ऐशान स्वर्ग में इन्द्र ने प्रशंसा की—राजा मेघरथ सम्यग्दृष्टियो में अग्रगण्य है। वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं, धर्मवीर है। इन्द्र द्वारा मेघरथ की इस प्रकार प्रशसा सुनकर अतिरूपा और सुरूपा नाम की दो देवियां उनकी परीक्षा के लिये आई। उन्होने नाना प्रकार के नृत्य, हावभाव, विलास आदि द्वारा मेघरथ को विचलित करना चाहा, किन्तु असफल रही और उनकी स्तुति कर चली गई।

किसी दिन भगवान धनरथ नगर के बाहर मनोहर उद्यान में पधारे मेघरथ उनके दर्शनों के लिये गये। भगवान का उपदेश सुनकर उन्होंने सम्पूर्ण आरम्भ परिग्रह का त्याग करने का संकल्प किया और अपने छोटे भाई दृढ़रथ से बोले—मैं दीक्षा लेना चाहता हूं, तुम राज्य संभालो। दृढ़रथ बोला—आप जिस कारण से राज्य का परित्याग करना चाहते हैं, मैं उसी कारण से इसे ग्रहण नही करना चाहता। राज्य को ग्रहण कर एक

दिन छोड़ना ही पड़ेगा तब उसे पहले ही ग्रहण करना अच्छा नहीं है। तब मेघरथ ने अपने पुत्र मेघसेन का राज्याभिषेक करके अपने छोटे भाई और सात हजार राजाओं के साथ भगवान धनरथ के पास दीक्षा ग्रहण कर ली।

वे क्रम से ग्यारह अंग के वेत्ता हो गये और उन्होंने सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन किया, जिससे उन्हें सातिशय पुण्य वाली तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो गया। वे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चारों आराधनाओं की निरन्तर विशुद्धि बढ़ाते जा रहे थे। अन्त में नभ-स्तिलक नामक पर्वत पर अपने छोटे भाई हढ़रथ के साथ एक माह तक प्रायोपगमन नामक समाधि धारण कर ली। अन्त में शान्त भावों से शरीर छोडकर अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुए। हढ़रथ भी अहमिद्र बने।

गर्भ कल्याणक—

हस्तिनापुर नगरी में काश्यप गोत्री महाराज विश्वसेन राज्य करते थे। गान्धार नरेश राजा अजितजय की पुत्री एरा उनकी महारानी थीं। उनकी सेवा इन्द्र द्वारा भेजी हुई श्री, ह्री, धृति आदि देवियां करती थीं। भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को भरणी नक्षत्र में रात्रि के चतुर्थ भाग में उन्होंने शुभ सोलह स्वप्न देखे। स्वप्नों के बाद उन्होने मुख में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। उसी समय मेघरथ का जीव अनुत्तर विमान से च्युत होकर महारानी ने गर्भ में अवतरित हुआ। प्रातः काल की भेरी का शब्द सुनकर महारानी शय्या त्याग कर उठी। उन्होने मगल स्नान करके वस्त्रा-लकार धारण किये और राजसभा में पहुंची। महाराज ने उनकी अभ्यर्थना की और अपने वाम पार्श्व में सिहासन पर उन्हें स्थान दिया। महारानी ने रात को देखे हुए स्वप्नो का वर्णन करके महाराज से उन स्वप्नों का फल पूछा। अवधिज्ञान के धारक महाराज ने हर्षपूर्वक स्वप्नों का फल बताया और कहा—देवी! तुम्हारे गर्भ में विश्वोद्धारक तीर्थंकर देव का आगमन हुआ है। सुनकर महारानी को बड़ा हर्ष हुआ। उसी समय चारो निकाय के देव और इन्द्र वहां आये और गर्भावतार कल्याणक की पूजा की।

जन्म-कल्याणक—

पन्द्रह माह तक देवों ने रत्नवृष्टि की। रानी के गर्भ में बालक बडे अभ्युदय के साथ बढ़ने लगा। नौ माह पूरे होने पर ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन याम्य योग में प्रातः काल के समय माता ने लोकोत्तर पुत्र को जन्म दिया। पुत्र इतना सुन्दर था, मानो साक्षात् कामदेव ही अवतरित हुआ

हो। उसका ऐसा मोहन रूप था कि जो देखता, वह उसकी मोहनी में बंधा रह जाता। वह जन्म से ही मति, श्रुत और अवधि ज्ञान का धारी था। उस पुत्र की पुण्य वर्गणाओं के कारण उसके उत्पन्न होते ही चारों प्रकार की देव जाति में स्वतः ही प्रत्येक देव-विमान और आवास में शंखनाद, भेरीनाद, सिंहनाद और घण्टानाद होने लगा। उस ध्वनि को सुनते ही प्रत्येक इन्द्र और देव ने जान लिया कि तीर्थंकर प्रभु का जन्म हुआ है। सबके हृदय भक्ति और उल्लास से उमगने लगे। सब देव और इन्द्र विविध वाहनों पर आरूढ़ होकर बड़े आनन्द उत्सव के साथ हस्तिनापुर में आये और इन्द्राणी ने माता की बगल में मायामय शिशु बनाकर सुलाकर दिया तथा भगवान को अपने अंक में उठा लिया। इन्द्राणी और देवियों के सन्तान नहीं होती, अतः वे नहीं जानतीं कि पुत्र-वात्सल्य क्या होता है। किन्तु त्रिलोकीनाथ को गोद ले लेते ही इन्द्राणी के मनः प्राण जिस अलौकिक पुलक से भर उठे, उससे उसके मन का अणु-अणु प्रभु-भक्ति में डूब गया। वह उस दिव्य बालक को लेकर सम्पूर्ण बाह्य को भूल गई, वह यह भी भूल गई कि वह इन्द्राणी है। वह तो प्रभु की भक्ति में इतनी विभोर हो गई कि अपने आपको प्रभु रूप ही देखने लगी। उस समय की उसकी मनोदशा का अंकन क्या किसी लेखनी या तूलिका से हो सकता है ?

जब उसे प्रतीक्षारत देवों का ध्यान आया, तब उसे चेत आया। वह वह बाल प्रभु को लेकर चली, किन्तु दृष्टि प्रभु की सौन्दर्य-वल्लरी का ही रस-पान कर रही थी। वह चल रही है, क्या इसका उसे कुछ पता था ! जब सौधर्मेन्द्र ने उसके अंक से बालक को ले लिया, तब उसे लगा जैसे वह रीती हो गई है। किन्तु जो रसाच्छन्नता उसके मन को विमोहित किये हुए थी, वही विमोहित दशा बालक को अंक में लेते ही इन्द्र की भी हो गई। रूप ही मानो आकार धारण करके बाल रूप में आ गया था। किन्तु इन्द्र विजड़ित नहीं हुआ। वह तो सहस्र नेत्र बनाकर उस रूप-सुधा को अपने सारे जड़ चेतन प्राणों से पीने लगा। भक्ति का भी एक नशा होता है। जब यह नशा आता है तो वह सब कुछ भूल जाता है। तब केवल वह रहता है और उसका प्रभु रहता है। भक्त अपनी भक्ति से दोनों के अन्तर को मिटा डालता है। वहाँ द्वैध भाव समाप्त हो जाता है, अभेद भावना भर जाती है। इन्द्र भी तब ऐसी ही स्टेज पर पहुंच गया। मन में हुमक समाये न समायी, वह निकलने को मार्ग ढूंढ़ने लगी। राह मिली पदों में। मन नाच रहा था, पैर नाचने लगे। जगत्प्रभु अंक में और इन्द्र लोकातीत लोक में, जहां इन्द्र नहीं, प्रभु नहीं, देव नहीं लोक भी नहीं, जहां भावना

भी अतीत हो गई, जहां केवल शून्य है और शून्य में अधिष्ठित है केवल शुद्ध आत्मा, सिद्ध रूप आत्मा।

इन्द्राणी और इन्द्र भाव लोक की इस कुँवारी धारा में कितने समय बहते रहे, यह समय की पकड़ से परे थी। लेकिन इस धारा में उनके कितनी कर्म-वर्गणायें बह गईं उसका अन्त नहीं, उसकी संख्या भी नहीं।

तब सब देव चले। इन्द्र ने भगवान को ऐरावत हाथी पर अपने अंक में ले रखा था। इन्द्र सोच रहा था क्या भगवान का स्थान यह है। नहीं, उनका स्थान यह नहीं, यह लोक भी नहीं, उनका स्थान तो इस लोक के अग्र भाग पर है। वहीं तो बनाना है अपना स्थान इन भगवान को। और मुझे ही क्या इन भगवानों का भार सदा लादे फिरना है। मुझे भी तो यह निस्सार वैभव, इन्द्र का तुच्छ पद और स्वर्ग का कोलाहल त्याग कर मानव बनकर लोक शिखर पर पहुंचना है वही तो है मेरा वास्तविक स्थान।

देवों का जलूस सुमेरु पर्वत पर जाकर रुका। कितने देव-देवियां थे इस शोभा यात्रा में, क्या उंगलियों की संख्या में वे बांधे जा सकते थे। किन्तु सभी प्रभु की भक्ति में डूबे हुए थे। सब अपनी भक्ति अपने ही ढग से प्रगट कर रहे थे। वह भक्ति सब बन्धनों से, लौकिक शिष्टाचारों से अतीत थी। लेकिन उसमें एक व्यवस्था थी, अनुशासन था और कलात्मकता थी। प्रभु को पाण्डुक पर्वत की रत्नशिला पर विराजमान किया और देव यन्त्र-चालित से सुमेरु से क्षीरसागर तक पंक्तिबद्ध खड़े हो गये। जलपूरित स्वर्ण कलश एक हाथ से दूसरे हाथों में पहुंचते गये और इन्द्र भगवान का अभि-षेक करने लगे। यों प्रभु का एक हजार कलशों से अभिषेक हुआ। इन्द्राणी ने न्हवन के अनन्तर रत्नकवल से भगवान का शरीर पोंछा, इन्द्र के भण्डार से लाये हुए वस्त्राभूषणों से उनका शृंगार किया। तब प्रभु की उस काल की मोहक छवि से इन्द्र फिर एक बार भूल गया अपनी सुध-बुध को। उसके पैर स्वतः ही थिरकने लगे, गन्धर्वों ने वाद्य संभाले, देवियों ने इन्द्र के नृत्य की संगत साधी। भक्ति के इस पूर में सब कुछ भूल गये। सबके मन शान्ति, दिव्य शान्ति से भर गये। शान्ति का यह चमत्कारपूर्ण अनुभव था। सौधर्मेन्द्र ने नारा दिया—भगवान शान्तिनाथ की जय। सबने इस नारे को दुहराया। यही था बालक का नामकरण संस्कार। यही नाम फिर लोक-लोकान्तरों में विख्यात हो गया। बालक था त्रिलोकीनाथ, नामकरण करने वाला था स्वर्ग का इन्द्र और साक्षी था सम्पूर्ण देव समाज नाम रक्खा गया था बालक के गुण के अनुसार।

देव समाज जिस उल्लास से बालक को ले गया था, उसी उल्लास से वापिस लौटा। आकर माता को इन्द्राणी ने उनकी अमूल्य धरोहर सौंपी। इन्द्र ने पिता को सारे समाचार सुनाये। सुनकर माता-पिता बड़े हर्षित हुए। कैसी विडम्बना है दुनिया वालों की। जो स्वयं तीनों लोक का शृंगार है, उसका शृंगार रत्नाभूषणों से करते हैं और जो स्वयं लोक का रक्षक है, उसकी रक्षा के लिये इन्द्र ने लोकपालों की नियुक्ति की। किन्तु सच बात तो यह है कि भगवान को न शृंगार की आवश्यकता है और न किसी रक्षक को। वह तो इन्द्राणी और इन्द्र की भक्ति थी।

चक्रवर्ती पद—

भगवान शान्तिनाथ के शरीर की कान्ति स्वर्ण के समान थी। उनके शरीर में ध्वजा, तोरण, सूर्य, चन्द्र, शंख और चक्र आदि शुभ चिह्न थे।

महाराज विश्वसेन की दूसरी रानी यशस्वती के गर्भ से दृढ़रथ का जीव अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र पद का भोग करके उत्पन्न हुआ और उसका नाम चक्रायुध रक्खा गया।

बालक शान्तिनाथ ज्यों-ज्यों आयु में बढ़ते जाते थे, त्यों-त्यों उनकी लक्ष्मी, सरस्वती और कीर्ति भी बढ़ती जाती थी। जब वे यौवन अवस्था को प्राप्त हुए, तब पिता ने सुन्दर, सुशील और गुणवती अनेक कन्याओं के के साथ उनका विवाह कर दिया और पिता ने अपना राज्य सौंप दिया। राज्य करते हुए जब शान्तिनाथ को कुछ समय हो गया, तब चक्र आदि चौदह रत्न और नौ निधियाँ प्रगट हुईं। उन चौदह रत्नों में से चक्र, छत्र, तलवार और दण्ड ये चार आयुधशाला में उत्पन्न हुए थे। काकिणी, चर्म और चूड़ामणि श्रीगृह में प्रगट हुए थे। पुरोहित, स्थपति, सेनापति और गृहपति हस्तिनापुर में मिले थे तथा कन्या, गज और अश्व बिजयार्ध पर्वत पर प्राप्त हुए थे। नौ निधियां इन्द्रों ने नदी और सागर समागम पर लाकर दी थीं। चक्र के बल पर और सेनापति के द्वारा उन्होंने भरत क्षेत्र के छहों खंडों पर विजय प्राप्त कर सम्पूर्ण भरत में चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना की। चक्रवर्ती पद की समस्त विभूति उन्हें प्राप्त थी। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उन्हें नमन करते थे। उनके अन्तःपुर में छियानवै हज़ार रानियां थीं। उन्हें दस प्रकार के भोग प्राप्त थे।

दीक्षा-कल्याणक—

चक्रवर्ती पद का भोग करते हुए उन्हें बहुत काल बीत गया। एक

दिन वे अलंकार गृह में अलंकार धारण कर रहे थे, तभी उन्हें दर्पण में अपने दो प्रतिबिम्ब दिखाई पड़े। वे विचार करने लगे—यह क्या है। तभी उन्हें अपने पूर्वजन्म की बातें स्मरण हो आईं। संसार का अस्थिर रूप देखकर उनके मन में आत्मकल्याण की भावना जागृत हुई। तभी लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान को नमस्कार किया और उनके वैराग्य की सराहना करते हुए उनसे धर्म-तीर्थ के प्रवर्तन करने की प्रार्थना की। भगवान ने नारायण नामक अपने पुत्र को राज्य-पट्ट बांधकर राज्य उसे सौंप दिया। इन्द्र ने आकर उनका दीक्षाभिषेक किया। फिर वे देवनिर्मित सर्वार्थसिद्धि पालकी में बैठकर नगर के बाहर सहस्राम्र वन में पहुंचे। वहाँ शिलातल पर उत्तर की ओर मुख करके पर्यंकासन में बैठ गये। उसी समय ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन शाम के समय भरणी नक्षत्र में बेला का नियम लेकर सिद्ध भगवान को नमस्कार कर सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग किया, पंचमुष्टि लोंच किया और निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा धारण कर सामायिक चारित्र की विशुद्धता और मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त किया। इन्द्र ने उनके केशों को एक रत्नमंजूषा में रख कर क्षीरसागर में प्रवाहित कर दिया। उनके साथ चक्रायुध आदि एक हजार राजाओं ने भी सकल संयम धारण कर लिया। इन्द्र और देव ऐसे संयम की भावना करते हुए दीक्षा महोत्सव मनाकर अपने-अपने स्थान को चले गये।

पारणा के लिये भगवान मन्दिरपुर नगर में पहुंचे। वहाँ सुमित्र राजा ने भगवान को प्रासुक आहार दिया। देवों ने इस उपलक्ष्य में पचाश्चर्य किये।

केवलज्ञान कल्याणक—

छद्मस्थ अवस्था के सोलह वर्ष तक भगवान विभिन्न स्थानों पर रहकर घोर तप करते रहे और निरन्तर कर्मों का क्षय करते गये। फिर भगवान चक्रायुध आदि मुनियों के साथ सहस्राम्र वन में पधारे और नन्द्यावर्त वृक्ष के नीचे बेला के उपवास का नियम लेकर ध्यानमग्न हो गये। उनका मुख पूर्व की ओर था। भगवान को पौष शुक्ला दशमी को भरणी नक्षत्र में सायंकाल के समय ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म नष्ट होने पर केवलज्ञान प्रगट हुआ। देव और इन्द्रों ने आकर भगवान का ज्ञान कल्याणक मनाया और समवसरण की रचना की। भगवान ने उसी दिन दिव्य ध्वनि द्वारा धर्मचक्र-प्रवर्तन किया।

भगवान का संघ—

भगवान के संघ में चक्रायुध आदि छत्तीस गणधर थे। ८०० पूर्वधर, ४१८०० शिक्षक, ३००० अवधिज्ञानी, ४००० केवलज्ञानी, ६००० विक्रिया ऋद्धिधारी, ४००० मनः पर्ययज्ञानी, २४०० वादी थे। इस प्रकार कुल मुनियों की संख्या ६२००० थी। हरिषेणा आदि ६०३०० आर्यिका थीं। सुरकीर्ति आदि २००००० श्रावक और अर्हद्दासी आदि ४००००० श्राविकायें थी।

निर्वाण कल्याणक—

भगवान बहुत समय तक विभिन्न देशों में विहार करके धर्म का प्रकाश संसार को देते रहे। जब एक माह की आयु शेष रह गई, तब वे सम्मेदशिखर पर आये और विहार बन्द कर वहां योगनिरोध करके विराजमान हो गये। उन्होंने अवशिष्ट वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्मो का भी क्षय कर दिया और ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन रात्रि के पूर्व भाग में भरणी नक्षत्र में नौ हजार राजाओं के साथ निर्वाण प्राप्त किया। चार प्रकार के देव आये और निर्वाण कल्याणक की पूजा करके अपने-अपने स्थान को चले गये।

जन्म-चिन्ह—

भगवान का चिन्ह हरिण था।

यक्ष-यक्षिणी—

इनका गरुड़ यक्ष और महामानसी यक्षिणी थी।

हस्तिनापुर

भगवान की जन्म-नगरी हस्तिनापुर विख्यात जैन तीर्थ है। यहीं पर सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ, सत्रहवे कुन्थुनाथ और अठारहवें भगवान अरनाथ का जन्म हुआ था। यही इन तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान ये चार कल्याणक हुए। ये तीनों तीर्थंकर पांचवे, छटवे, सातवे चक्रवर्ती भी थे।

अयोध्या की तरह हस्तिनापुर की भी रचना देवों ने की थी। यहां ऋषभदेव, मल्लिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि कई तीर्थंकरों का पदार्पण

हुआ था। यहीं पर भगवान ऋषभदेव ने दीक्षा के बाद राजकुमार श्रेयांस के प्रथम आहार लिया था। जिस दिन भगवान ने आहार लिया था, वह पावन तिथि वैशाख शुक्ला तृतीया थी। भगवान के आहार के कारण यह तिथि भी पवित्र हो गई और अक्षय तृतीया कहलाने लगी। राजकुमार श्रेयान्स का नाम दान-तीर्थ के प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध हो गया और संसार में दान देने की प्रथा का प्रारम्भ भी इसी घटना के कारण हुआ।

सती सुलोचना श्रेयान्स के बड़े भाई राजा सोमप्रभ के पुत्र मेघेश्वर जयकुमार की पत्नी थी, जिनके शील की चमत्कारपूर्ण घटनायें प्रसिद्ध हैं। सोमप्रभ से सोमवंश या चन्द्रवंश चला। जयकुमार प्रथम चक्रवर्ती भरत का प्रधान सेनापति था।

चौथा चक्रवर्ती सनत्कुमार यहीं हुआ था। इस प्रकार लगातार चार चक्रवर्ती और तीन तीर्थंकर यहां हुए।

यही पर बलि आदि मंत्रियों ने सात दिन का राज्य पाकर अकंपना-चार्य के संघ के सात सौ मुनियों की बलि देकर यज्ञ-विधान का ढोंग रचा था। तब मुनि विष्णुकुमार ने वामन ब्राह्मण का रूप धरकर बलि से तीन पग धरती की याचना की थी। बलि द्वारा संकल्प करने पर मुनिराज ने विक्रियाऋद्धि से अपना शरीर बढ़ाकर एक पग सुमेरु पर्वत पर रक्खा। दूसरा पग मानुषोत्तर पर्वत पर रक्खा। अब तीसरे पग लायक भूमि की मांग उन्होंने की। सारे लोक में आतंक छा गया। बलि आदि चारों मंत्री भय के मारे कांपने लगे। वे मुनि विष्णुकुमार के चरणों में गिरकर क्षमा मांगने लगे। तत्काल मुनियों के चारो ओर लगाई हुई आग बुझाई गई। सब लोगों ने मुनियों की पूजा की और साधर्मीवात्सल्य के नाते परस्पर में रक्षा-सूत्र बांधा। तबसे इस घटना की स्मृति में रक्षा-बन्धन का महान पर्व प्रचलित हो गया जो श्रावण शुक्ला पूर्णिमा को उल्लासपूर्वक मनाया जाता है।

यहीं पर पाण्डव और कौरव हुए थे और राज्य के लिए दोनों पक्षों में महाभारत नामक प्रसिद्ध महायुद्ध हुआ था।

एक बार दमदत्त नामक मुनि उद्यान में विराजमान थे। कौरव उधर से निकले। मुनि को देखते ही वे उन पर पत्थर बरसाने लगे। थोड़ी देर बाद पाण्डव आये। उन्होंने मुनिराज की चरण-वन्दना की और पत्थर हटाये। मुनि तो ध्यानलीन थे। उन्हें उसी समय केवलज्ञान हो गया।

कवि बनारसीदास के 'अर्धकथानक' से ज्ञात होता है कि सन् १६०० में कविवर ने यहां की सकुटुम्ब यात्रा की थी। 'अर्धकथानक' से यह भी ज्ञात होता है कि उस काल में भी यहां जैन यात्री यात्रा के लिए बराबर आते रहते थे।

वर्तमान मन्दिर का भी बड़ा रोचक इतिहास है। यहां पर संवत १८५८ में ज्येष्ठ वदी तेरस को मेला था। इसमें दिल्ली से राजा हरसुख-राय, शाहपुर से लाला जयकुमारमल आदि समाजमान्य सज्जन आये थे। सभी लोग चाहते थे कि यहां जैन मन्दिर बनना चाहिये। प्राचीन मन्दिर टूट-फूट गये थे। नसियों की हालत खस्ता थी। लोगों ने राजा हरसुखराय से मन्दिर-निर्माण की प्रार्थना की। राजा साहब मुगल बादशाह शाह आलम के खजांची थे और उनका बड़ा प्रभाव था। राजा साहब ने मन्दिर बनाने की स्वीकृति दे दी। लेकिन मन्दिर बनने में कठिनाई यह थी कि शाहपुर के गूजर जैन मन्दिर बनाने का विरोध करते थे। यह इलाका बहसूमे के गूजर नरेश नैनसिंह के अधिकार में था। राजा नैनसिंह के मित्र लाला जयकुमारमल भी वहां मौजूद थे। राजा साहब ने उनसे प्रेरणा की कि आप नैनसिंह जी से कह कर काम करा दीजिये। लाला जी ने अवसर देखकर नैनसिंह से मन्दिर की चर्चा छेड़ दी। उसमें राजा साहब का भी जिक्र आया। नैनसिंह जी राजा साहब से कई मामलो में आभार से दबे हुए थे। अतः उन्होंने मंजूरी दे दी और मन्दिर का शिलान्यास करने की भी स्वीकृति दे दी।

दूसरे ही दिन सैकड़ों लोगों की उपस्थिति में राजा नैनसिंह ने मन्दिर की नींव में पांच ईंटे अपने हाथ से रक्खी। राजा हरसुखराय के धन से लाला जयकुमारमल की देख-रेख में मन्दिर का निर्माण हुआ। जब मन्दिर का कार्य कुछ बाकी रह गया, तब राजा साहब ने जनता की उपस्थिति में समाज के पंचों से हाथ जोड़कर निवेदन किया—सरदारो! जितनी मेरी शक्ति थी, उतना मैंने कर दिया। मन्दिर आप सबका है। इसलिये इसमें सबको मदद करनी चाहिये।' वहाँ एक घड़ा रख दिया गया। सबने उसमें अपनी शक्ति के अनुसार दान डाला। लेकिन जो धन उससे संग्रह हुआ, वह बहुत कम था। राजा साहब का उद्देश्य इतना ही था कि मन्दिर पंचायती रहे और वे अहंकार में ग्रस्त न हो जायें।

संवत् १८६३ में राजा साहब ने कलशारोहण और वेदी प्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न कराया। संवत् १८६७ में लाला जयकुमारमल ने मन्दिर

का विशाल द्वार बनवाया। मन्दिर के चारों ओर पांच विशाल धर्मशा-लायें हैं।

सन् १८५७ में गदर के समय गूजरों ने इस मन्दिर को लूट लिया वे लोग मूलनायक पार्श्वनाथ की प्रतिमा भी उठा ले गये। बाद में फिर एक बार मन्दिर को लूटा। नया मन्दिर दिल्ली से भगवान शान्तिनाथ की प्रतिमा ले जाकर मूल नायक के रूप में विराजमान कर दी गई। उसके कारण यह शान्तिनाथ का मन्दिर कहा जाने लगा।

इस मन्दिर के पीछे एक मन्दिर और है। मन्दिर से तीन मील की दूरी पर नशियां बनी हुई हैं। तांगे मिलते हैं। रास्ता कच्चा है। सबसे पहले भगवान शान्तिनाथ की नशियां है। उसमें भगवान के चरण-चिन्ह हैं। फिर कुछ दूर जाने पर एक कम्पाउण्ड में अरनाथ और कुन्थुनाथ की नशियां हैं। इन दोनों में भी चरण-चिन्ह बने हुए हैं। इनसे आगे एक कम्पाउण्ड में भगवान मल्लिनाथ की टोंक है।

*

१७. भगवान कुन्थुनाथ

पूर्व भव—

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिणी तट पर वत्स नामक देश था। उसकी सुसीमा नगरी में राजा सिंहरथ राज्य करता था। उसने अपने पराक्रम से समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली थी और निष्कण्टक राज्य कर रहा था। एक दिन उसने उल्कापात होते हुए देखा। उसे देखकर उसके मन में संसार के भोगो की क्षणभंगुरता की ओर दृष्टि गई और उसने भोगों को निस्सार समझकर उन्हें छोड़ने का संकल्प कर लिया। वह राजपाट, परिवार का त्यागकर मुनि यतिवृषभ के समीप गया और उन्हें नमस्कार कर सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर दिया। उनके साथ अनेक राजाओं ने भी मुनि-दीक्षा ले ली। मुनि सिंहरथ गुरु के समीप रहकर घोर तपस्या करने लगे। उन्होंने ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त किया और सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करने लगे। फलतः उन्हें तीर्थङ्कर नामकर्म की पुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। आयु के अन्त में समाधिमरण कर सर्वार्थ सिद्धि अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुए।

गर्भ कल्याणक—

हस्तिनापुर नगर के कौरववंशी काश्यपगोत्री श्री महाराज सूरसेन थे। उनकी महारानी का नाम श्रीकांता था। महारानी ने श्रावण कृष्णा दसमी के दिन कृत्तिका नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में जब सर्वार्थसिद्धि के उस अहमिन्द्र की आयु समाप्त होने वाली थी, सोलह शुभ स्वप्न देखे ओर बाद में मुख में प्रवेश करता हुआ हाथी देखा। तभी अहमिन्द्र का वह जीव महारानी के गर्भ में अवतीर्ण हुआ। प्रातः काल बन्दीजनों के मंगलगान से महारानी की नींद खुली। स्वप्नों के प्रभाव से महारानी के मन में बड़ा उल्लास था। उन्होंने नित्य कार्य कर स्नान किया, मांगलिक वस्त्राभूषण पहने और दासियों से परिवेष्टित होकर राजसभा में पधारी। उन्होंने महाराज की यथायोग्य विनय की। महाराज ने उन्हें बड़े आदर-सहित वाम पार्श्व में स्थान दिया। महारानी ने महाराज से अपने स्वप्नों की चर्चा करके उनके फल पूछे। महाराज ने अवधिज्ञान से जानकर उनका फल बताया। फल सुनकर महारानी का मन हर्ष से भर गया। तभी देवों

ने आकर महाराज सूरसेन और महारानी श्रीकांता का गर्भ कल्याणक सम्बन्धी अभिषेक किया और पूजा की।

जन्म कल्याणक—

नौ मास व्यतीत होने पर वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन आग्नेय योग में महारानी ने पुत्र प्रसव किया। उस समय इन्द्र और देव आये और बालक को लेकर सुमेरु पर्वत पर ले गये। वहाँ क्षीरसागर के जल से उस दिव्य बालक का अभिषेक किया, उसका दिव्य वस्त्रालकारों से शृंगार किया। इन्द्र ने बालक का नाम कुन्थुनाथ रक्खा। उसके चरण में बकरे का चिन्ह था, जिस पर इन्द्र की सर्वप्रथम दृष्टि पड़ी। इसलिये उस बालक का सांकेतिक चिन्ह बकरा माना गया। फिर इन्द्र और देव बालक को वापिस लाये और उसे माता-पिता को सोंपकर आनन्दोत्सव किया। पिता ने भी नगरी में धूमधाम के साथ बालक का जन्मोत्सव मनाया। देव लोग उत्सव मनाकर अपने अपने स्थान पर चले गये।

दीक्षा कल्याणक—

शान्तिनाथ तीर्थङ्कर के मोक्ष जाने के बाद जब आधा पल्य बीत गया, तब कुन्थुनाथ भगवान का जन्म हुआ था। उनकी आयु भी इसी काल में सम्मिलित थी। उनकी आयु पचानवें हजार वर्ष थी। उनका शरीर पेंतीस धनुष उन्नत था। सुवण के समान उनके शरीर की कांति थी। जब तेईस हजार सात सो पचास वर्ष कुमारकाल के व्यतीत हो गए, तब पिता ने उनका राज्याभिषेक और योग्य कन्याओ के साथ उनका विवाह कर दिया। राज्य करते हुए इतना ही काल व्यतीत हो गया, तब उनकी आयुधशाला में चक्र आदि शस्त्र तथा चक्रवर्ती पद के योग्य अन्य रत्न और सामग्री प्राप्त हुई। उन्होने विशाल सेना लेकर भरत क्षेत्र के छह खण्डों पर विजय प्राप्त कर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। सारे भरत क्षेत्र के बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उनके आज्ञानुवर्ती थे। उन्हें समस्त सांसारिक भोग उपलब्ध थे। भोग भोगते हुए और साम्राज्य लक्ष्मी का भोग करते हुए उन्हें तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष बीत गये। वे तीर्थकर थे, चक्रवर्ती थे और कामदेव थे। उनका रूप, वैभव, और पुण्य असाधारण था कोई ऐसा सांसरिक सुख नहीं था, जो उन्हें अप्राप्त था।

एक दिन वे वन बिहार के लिये गये। मंत्री उनके साथ थे। उन्होंने देखा—एक निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि आतापन योग से स्थित हैं। उन्होंने

उनकी ओर संकेत करके मंत्री से उनकी प्रशंसा की—'देखो मंत्रीवर ! ये मुनि कितना घोर तप कर रहे हैं।' मंत्री ने नतमस्तक होकर मुनिराज की वन्दना की और प्रभु से पूछा—'देव ! इतना कठिन तप करके इनको क्या फल मिलेगा ?' प्रभु बोले—ये मुनि कर्मों को नष्ट करके इसी भव से मोक्ष प्राप्त करेंगे। जो परिग्रह और आरम्भ का त्याग करते हैं, वे ही संसार के परिभ्रमण से मुक्ति प्राप्त करते हैं। संसार-भ्रमण का कारण यह आरम्भ परिग्रह ही है।'

वस्तुत: भगवान ने मंत्री को जो कुछ कहा था, वह उपदेश मात्र नहीं था, अपितु भगवान के सतत चिन्तन की उस दिशा का संकेत था, जो सांसरिक भोग भोगते हुए भी वे सांसरिक भोगों की व्यर्थता, संसार के स्वरूप और आत्मा के त्रिकाली स्वभाव के सम्बन्ध में निरन्तर किया करते थे। वास्तव में वे भोगों में कभी लिप्त नहीं हुए। वे भोगों का नहीं भोग्य कर्मों का भोग कर रहे थे और चिन्तन द्वारा भोग-काल को अल्प कर रहे थे। एक दिन इस चिन्तन के क्रम में उन्हें अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया। इससे उन्हे आत्मज्ञान हो गया। चिन्तन के फलस्वरूप उन्हे भोगो से अरुचि हो गई और उन्होंने दीक्षा लेने का निश्चय किया। लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान की वन्दना की और निवेदन किया—'धन्य है प्रभु आपके निश्चय को। अब आप धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन कीजिये। ससार के दुखी प्राणी आपकी ओर आशा भरी निगाहों से निहार रहे हैं।

भगवान ने अपने पुत्र को राज्य का भार सोंप दिया। देवताओं ने शिविका लाकर उपस्थित की और प्रभु उस विजया पालकी में बैठकर नगर के बाहर सहेतुक वन में पहुंचे और वहां अपने जन्म-दिन—वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन कृतिका नक्षत्र में सायंकाल के समय बेला का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ उन्होंने सम्पूर्ण पापों का परित्याग करके दीक्षा ग्रहण कर ली। उसी समय उन्हें मन:पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। देवों ने भगवान का दीक्षा कल्याणक उत्सव मनाया।

दूसरे दिन विहार कर प्रभु हस्तिनापुर नगर में पधारे। वहां राजा धर्ममित्र ने आहार देकर प्रभु का पारणा कराया। देवों ने पंचाश्चर्य किये।

केवलज्ञान—

विविध प्रकार के घोर तप करते हुए भगवान ने छद्‌मस्थ अवस्था के सोलह वर्ष बिताये। फिर विहार करते हुए वे दीक्षा-वन में पधारे।

वहां तिलक वृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर विराजमान हो गये। वहीं चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन सायंकाल के समय कृत्तिका नक्षत्र में मोह का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया। तभी हर्ष और भाव-भक्ति से युक्त देव और इन्द्र आये। कुबेर ने समवसरण की रचना की। उसमें गन्धकुटी में अशोक वृक्ष के नीचे सिंहासन पर विराजमान होकर भगवान ने धर्म का स्वरूप देवों, मनुष्यों और तिर्यंचों को सुनाकर धम-तीर्थ की स्थापना की और तीर्थंकर पद की सार्थकता की।

भगवान का संघ—

भगवान ने चतुर्विध संघ की स्थापना की। उस संघ में स्वयम्भू आदि पैंतीस गणधर थे। ७०० मुनि पूर्व के ज्ञाता थे। ४३१५० शिक्षक, २५०० अवधिज्ञानधारी, ३२०० केवलज्ञानी, ५१०० विक्रिया ऋद्धि के धारक, ३३०० मन:पर्ययज्ञानी और २०५० सर्वश्रेष्ठ वादी थे। इस प्रकार ६०००० मुनि उनके सघ में थे। भाविता आदि ६०३५० आर्यिकायें थीं। ३००००० श्राविकायें थी और २००००० श्रावक थे। असंख्यात देव-देवियां और संख्यात तिर्यंच थे।

परिनिर्वाण—

भगवान धर्मोपदेश करते हुए अनेक देशों में धर्म विहार करते रहे। जब उनकी आयु में एक मास शेष रह गया तो भगवान सम्मेदशिखर पधारे। वहां उन्होंने एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया और वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन रात्रि के पूर्व भाग में कृत्तिका नक्षत्र का उदय रहते हुए समस्त कर्मों का नाश कर सिद्ध बुद्ध मुक्त हो गये।

यक्ष-यक्षिणी—

आपका सेवक गन्धर्व यक्ष और जया यक्षिणी थी।

१८. भगवान अरनाथ

पूर्व भव—

जम्बूद्वीप में सीतानदी के उत्तर तट पर कच्छ नामक देश था। उसमें क्षेमपुर नगर था, जिसका अधिपति धनपति नामक राजा था। वह प्रजा का रक्षक था, प्रजा उसे हृदय से प्रेम करती थी। उसके राज्य में राजा और प्रजा सब लोग अपनी-अपनी वृत्ति के अनुसार त्रिवर्ग का सेवन करते थे, अतः धर्म की परम्परा निर्बाध रूप से चली रही थी। एक दिन राजा भगवान अर्हन्नन्दन तीर्थंकर के दर्शनों के लिए गया और उनका उपदेश सुनकर उसके मन में आत्म-कल्याण की भावना जागृत हुई। उसने अपना राज्य अपने पुत्र को दे दिया और भगवान के निकट जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। वह भगवान के चरणों में रहकर तप करने लगा तथा शीघ्र ही ग्यारह अग का पारगामी हो गया। वह निरन्तर सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन करता था। फलतः उसे तीर्थंकर नामक सातिशय पुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। अन्त में प्रायोपगमन मरण करके जयन्त नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र पद प्राप्त किया।

गर्भावतरण —

कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में सोमवंश के भूषण काश्यप गोत्री महाराज सुदर्शन राज्य करते थे। उनकी महारानी मित्रसेना थी। जब उस अहमिन्द्र की आयु में छह माह शेष थे, तभी से महाराज के महलों में रत्न वर्षा होने लगी। जब अहमिन्द्र की आयु समाप्त होने वाली थी, तभी महारानी ने फाल्गुन शुक्ला तृतीया के दिन रेवती नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में तीर्थंकर जन्म के सूचक सोलह स्वप्न देखे तथा स्वप्नों के अन्त में उसने मुख में एक विशालकाय हाथी प्रवेश करते हुए देखा। तभी अहमिन्द्र का जीव स्वर्ग से चयकर महारानी के गर्भ में आया। प्रातःकाल होने पर महारानी स्नानादि से निवृत्त होकर शृंगार करके महाराज के निकट पहुंची और महाराज के वाम पार्श्व में आसन ग्रहण करके उन्होंने रात में देखे हुए अपने स्वप्नो की चर्चा उनसे की तथा उनसे स्वप्नों का फल पूछा। महाराज ने अवधिज्ञान से विचार कर कहा—देवी ! तुम्हारे गर्भ में जगत का कल्याण करने वाले तीर्थंकर भगवान अवतरित हुए हैं।

फल सुनकर माता को अपार हर्ष हुआ। तभी देवों ने आकर भगवान के गर्भ कल्याणक का उत्सव किया।

जन्म कल्याणक—

नौ माह व्यतीत होने पर महारानी मित्रसेना ने मंगसिर शुक्ला चतुर्दशी के दिन पुष्य नक्षत्र में एक हजार आठ लक्षणों से सुशोभित और तीन ज्ञान का धारी पुत्र उत्पन्न किया। उनके जन्म से तीनों लोकों के जीवों को शान्ति का अनुभव हुआ। उस असाधारण पुण्य के स्वामी पुत्र के जन्म लेते ही चारों प्रकार के देव और इन्द्र अपनी-अपनी देवियों और इन्द्राणियों के साथ तीर्थंकर बालक का जन्म कल्याणक महोत्सव मनाने वहां आये। वे पुत्र को सुमेरु पर्वत पर ले गये और वहां क्षीरसागर के जल से परिपूर्ण स्वर्ण कलशों से उन्होंने बालक का अभिषेक करके महान उत्सव किया। उत्सव मनाकर वे लोग पुनः हस्तिनापुर आये। इद्राणी ने बालक को माता को सौंपा। इन्द्र ने माता-पिता से देवो द्वारा मनाये गये उत्सव के समाचार सुनाये। सुनकर माता-पिता अत्यन्त हर्षित हुए। फिर उन्होंने पुत्र-जन्म का उत्सव मनाया। सौधर्मेन्द्र ने बालक का नामकरण किया और उसका नाम अरनाथ रक्खा। बालक के एक हजार आठ लक्षणो में से पैर में बने हुए मीन चिन्ह पर अभिषेक के समय इन्द्र की दृष्टि सबसे पहले पड़ी थी इसलिए अरनाथ का लाक्षणिक चिन्ह मीन' ही माना गया। भगवान के शरीर का वर्ण सुवर्ण के समान था।

भगवान कुन्थुनाथ के मोक्ष जाने बाद जब एक हजार करोड़ वर्ष कम पल्य का चतुर्थ भाग बीत गया, तब अरनाथ भगवान का जन्म हुआ था। उनकी आयु भी इसी काल में सम्मिलित थी। उनकी आयु चौरासी हजार वर्ष की थी। तीस धनुष ऊंचा उनका शरीर था। कामदेव के समान उनका रूप। था ऐसा लगता था, मानो सौन्दर्य की समग्र संचित निधि से ही उनके शरीर की रचना हुई हो।

दीक्षा-कल्याणक—

प्रभु धीरे-धीरे यौवन की ओर बढ़ रहे थे। जब उनकी कुमार अवस्था के इक्कीस हजार वर्ष बीत गये, तब पिता ने उन्हें राज्य सौंप दिया। उनका विवाह अनेक सुलक्षणा सुन्दर कन्याओं के साथ कर दिया। वे इक्कीस हजार वर्ष तक मण्डलेश्वर राजा के रूप में शासन करते रहे। तब उन्हें नौ निधियां और चौदह रत्न मिले। उन्होंने सम्पूर्ण भरत क्षेत्र

को जीत कर चक्रवर्ती-पद प्राप्त किया। उन्हें चक्रवर्ती-पद के योग्य सम्पूर्ण वैभव प्राप्त था। इस प्रकार भोग-भोगते हुए जब आयु का तीसरा भाग बाकी रह गया अर्थात जब अट्ठाईस हजार वर्ष की आयु बाकी थी, तब उन्होंने एक दिन देखा—शरदऋतु के बादल आकाश में इधर-उधर तैरते डोल रहे हैं। वे प्रकृति के इस सलौने रूप को निहार रहे थे कि देखते-देखते बादलों का नाम तक न रहा, वे अकस्मात् ही अदृश्य हो गये। इस दृश्य का भगवान के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा और इस दृश्य से उन्हें जीवन की वास्तविकता का अन्तर्बोध हुआ। उन्होंने तभी निश्चय कर लिया कि अब इस जीवन का एक भी अमूल्य क्षण भोगों में व्यय नहीं करना है, अभी तो आत्म-कल्याण करना है और जीवन क्षण पल बनकर छीजता जा रहा है। तभी लौकान्तिक देवो ने आकर उनके सद्विचारों का समर्थन किया और जगत्कल्याण के लिए तीर्थ-प्रवर्तन का अनुरोध करके वे अपने स्वर्ग को लौट गये। भगबान ने फिर जरा भी विलम्ब नहीं लगाया। उन्होंने अपने पुत्र अरविन्द कुमार को राज्य सौप दिया और देवों द्वारा उठायी हुई वैजयन्ती नामक पालकी में बैठकर सहेतुक बन में पहुँचे। वहां बेला का नियम लेकर मंगसिर शुक्ला दशमी के दिन रेवती नक्षत्र में सन्ध्या के समय एक हजार राजाओ के साथ दीक्षा ले ली। दीक्षा ले ली। दीक्षा धारण करते ही वे चार ज्ञान के धारी हो गये। देवों ने भगवान का दीक्षा कल्याणक उत्सव मनाया।

भगवान पारणा के लिए चक्रपुर नगर में पधारे। वहां राजा अपराजित ने भगवान को प्रासुक आहार देकर अक्षय पुण्य संचय किया। देवों ने पंचाश्चर्य किये। आहार लेकर भगवान विहार कर गये और तपस्या करने लगे।

केवलज्ञान-कल्याणक—

भगवान नाना प्रकार के कठिन तप करते हुए दीक्षा वन में पधारे और एक आम्रवृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर पद्मासन मुद्रा में ध्यानारूढ़ हो गये। वे शुक्लध्यान द्वारा घातिया कर्मो का उन्मूलन करने लगे वे अप्रमत्त दशा में आठवें-नौवें और दसवें गुणस्थान में पहुंचकर क्षपक श्रेणी में आरोहण करके बारहवें गुणस्थान में पहुचे। बारहवे गुणस्थान के प्रारम्भिक भाग में उन्होंने मोहनीय कर्म का नाश कर दिया और उसके उपान्त्य समय में उन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का नाश किया। इस प्रकार उन्हें कार्तिक शुक्ला द्वादशी के दिन रेवती नक्षत्र

में सायंकाल के समय अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य नामक चार क्षायिक गुण प्रगट हुए। वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन गये। तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से उन्हें अष्ट प्रातिहार्य की प्राप्ति हुई। देवों ने आकर भगवान के केवलज्ञान कल्याणक की पूजा की और देवों द्वारा निर्मित समवसरण सभा में देवों, मानवों और तिर्यंचों को उन्होंने अपना प्रथम उपदेश दिया, जिसे सुनकर अनेक मनुष्यों ने सकल संयम धारण किया, अनेक मनुष्यों और तिर्यंचों ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये, अनेक जीवों को सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई।

भगवान का परिकर—

भगवान ने चतुर्विध संघ की पुनः स्थापना की। उनके संघ में कुम्भार्य आदि तीस गणधर थे, ६१० ग्यारह अंग चौदह पूर्व के वेत्ता थे, ३५८३५ सूक्ष्म बुद्धि के धारक शिक्षक थे, २८०० अवधिज्ञानी थे, २८०० केवलज्ञानी थे, ४३०० विक्रिया ऋद्धिधारी थे, २०५५ मनःपर्ययज्ञानी थे, १६०० श्रेष्ठ वादी थे। इस प्रकार कुल मुनियों की संख्या ५०००० थी। यक्षिला आदि ६०००० अर्जिकायें थीं। १६०००० श्रावक और ३००००० श्राविकायें थी। असंख्यात देव और सख्यात तिर्यंच उनके भक्त थे।

निर्वाण कल्याणक

भगवान बहुत समय तक अनेक देशों में विहार करते हुए धर्मोपदेश द्वारा अनेक जीवों का कल्याण करते रहे। जब उनकी आयु एक माह शेष रह गई, तब उन्होंने सम्मेद शिखर पर जाकर एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया और योग निरोध करके चैत्र कृष्णा अमावस्या के दिन रेवती नक्षत्र में रात्रि के पूर्व भाग में अघातिया कर्मों का नाश करके निर्वाण प्राप्त किया। उसी समय इन्द्रों ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याण की पूजा की और स्तुति की।

यक्ष-यक्षिणी—

भगवान अरनाथ का सेवक महेन्द्र यक्ष और सेविका विजया यक्षी थी।

इन्हीं भगवान के शासन काल में आठवें चक्रवर्ती सुभौम हुवे। इसके अलावा छठे बलभद्र नन्दिषेण, पुण्डरीक नारायण व निशुम्भ प्रति नारायण हुवे।

---

१६. भगवान मल्लिनाथ

पूर्व भव—

मेरु पर्वत के पूर्व में कच्छकावती नामक देश में वीतशोक नगर था। वैश्रवण वहां का राजा था। एक दिन वह राजा वन का सौंदर्य देखने एवं वन-विहार के लिए गया। वन में एक विशाल वटवृक्ष था, जिसकी शाखाऐं प्रशाखायें विस्तृत भूमिखण्ड के ऊपर फैली हुई थीं। राजा ने उस वटवृक्ष की विशालता की बड़ी प्रशंसा की। राजा प्रशंसा करता हुआ आगे बढ़ गया। लौटते समय वह फिर उसी मार्ग से वापिस आया। किन्तु महान् आश्चर्य की बात थी कि उस विशाल वटवृक्ष का कहीं पता भी न था। बल्कि उसके स्थान पर एक जला हुआ ठूंठ खड़ा था। इतने ही काल में वज्र गिरने से वह वटवृक्ष जड़ तक जल गया था। उस दृश्य को देखकर राजा विचार करने लगा— जब इतने विशाल, उन्नत और बहुमूल्य वट वृक्ष की ऐसी दशा हो गई है तो इस निर्मूल मनुष्य-जीवन पर क्या विश्वास किया जा सकता है। उसे इस क्षणभंगुर जीवन से विराग हो गया। उसने अपने पुत्र को राज्य-भार सौंप दिया और श्रीनाग नामक मुनिराज के निकट प्रव्रज्या धारण कर ली। उसने नाना प्रकार के तपों द्वारा आत्मा को निर्मल किया, ग्यारह अंगों का अध्ययन किया तथा निरन्तर सोलहकारण भावनाओं का चिन्तन किया, जिससे तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध किया। अन्त में समाधिमरण करके चौथे अपराजित नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र बना।

गर्भ कल्याणक—

मिथिला नगरी के अधिपति इक्ष्वाकुवंशी, काश्यप गोत्री महाराज कुम्भ की महारानी का नाम प्रजावती था। जब उस अहमिन्द्र की आयु में छह माह शेष रह गये, तब देवों ने रत्नवृष्टि आदि द्वारा महाराज के नगर में अचिन्त्य वैभव प्रगट किया। जब उस अहमिन्द्र की वायु समाप्त होने वाली थी, उस दिन चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को अश्विनी नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में शुभफल को सूचित करने वाले महारानी ने सोलह स्वप्न देखे। बन्दीजनों के मंगल गान से महारानी की निद्रा भंग हुई। वे शय्या त्यागकर उठीं और नित्य कर्म से निवृत्त होकर मांगलिक वस्त्रालंकार धारण करके महाराज के पास पहुंची। महाराज से स्वप्नों का फल सुनकर

वे बड़ी हर्षित हुई। अहमिन्द्र का जीव महारानी के गर्भ में अवतरित हुआ। देवों ने आकर भगवान के गर्भ कल्याणक का उत्सव मनाया और माता-पिता की पूजा की तथा गर्भस्थ भगवान को नमस्कार किया।

जन्म-कल्याणक—

माता गर्भ में भगवान को धारण करके अत्यन्त सुशोभित हो रही थीं। उनका सौन्दर्य, कान्ति और लावण्य दिनों-दिन बढ़ता जा रहा था। गर्भ के कारण उन्हें कोई कष्ट या असुविधा का अनुभव नहीं होता था। इस प्रकार सुख से नौ मास बीतने पर महारानी प्रजावती ने मंगसिर सुदी एकादशी को अश्विनी नक्षत्र में पूर्ण चन्द्र के समान देदीप्यमान तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। यह दिव्य बालक एक हजार आठ शुभ लक्षणों से युक्त था, तीन ज्ञान का धारक था। उसी समय समस्त देव और इन्द्रों ने आकर बाल भगवान को ऐरावत हाथी पर विराजमान किया और सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के पवित्र जल से उसका अभिषेक किया। इन्द्राणी ने उसे वस्त्राभूषण पहनाये। सौधर्मेन्द्र ने बालक का नाम मल्लिनाथ रक्खा।

भगवान सुवर्ण वर्ण के थे, उनका शरीर पच्चीस धनुष ऊंचा था, पचपन हजार वर्ष की उनकी आयु थी, दाहिने पैर में कलश का चिह्न था।

दीक्षा कल्याणक —

भगवान जब यौवन अवस्था को प्राप्त हुए, तब पिता ने उनके विवाह का आयोजन किया। विवाह के हर्ष में पुरजनों ने सारा नगर सजाया। सफेद पताकाओं और वन्दनमालाओं से नगर दुलहिन की तरह सजाया गया। राजपथों और वीथिकाओं में सुगन्धित जल का सिंचन किया गया। किन्तु जिनके लिए यह सब आयोजन हो रहा था, वे इस सबसे निर्लिप्त थे। वे जीवन भर भोगों से उदासीन रहे। वह जीवनव्यापी साधना इन राग के क्षणों में भी चल रही थी। वे सोच रहे थे—वीतरागता का माहात्म्य अचिन्त्य है, राग में वह सुख कहाँ है। तभी उन्हें जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया और पूर्व जन्म में अपराजित विमान में भोगे हुए सुखों के बारे में सोचने लगे—जब स्वर्ग के वे भोग ही नहीं रहे तो इन नश्वर भोगों के सुख के लिए जीवन के अमूल्य समय का अपव्यय करने में कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। इस प्रकार भोगों से विरक्त होकर उन्होंने सम्पूर्ण आरम्भ परिग्रह के त्याग का संकल्प किया। तभी लौकान्तिक देवों ने

आकर भगवान को नमस्कार कर उनके संकल्प की सराहना की तथा उनसे प्रार्थना की—'भगवन् ! संसार के जीवों का कल्याण करने के लिए धर्म-तीर्थ के प्रवर्तन का अब काल आ पहुंचा है। भगवान दुखी प्राणियों पर करुणा करें।' इस प्रकार कहकर वे देव अपने स्वर्ग में वापिस चले गये।

इन्द्रों और देवों ने आकर भगवान का दीक्षा कल्याणक महाभिषेक किया। फिर भगवान जयन्त नामक देवोपनीत पालकी में आरूढ़ होकर श्वेत वन में पहुंचे। वहां उन्होने समस्त आरम्भ परिग्रह का त्याग करके सिद्ध भगवान को नमस्कार किया और केश लुंचन करके प्रव्रजित हो गए। उनके साथ में तीन सौ राजाओं ने भी सकल संयम धारण कर लिया। उस दिन अगहन सुदी एकादशी थी, अश्विनी नक्षत्र था और सायंकाल का समय था। यह संयोग की ही बात थी कि भगवान ने अपने जन्म दिन, मास, नक्षत्र और पक्ष को दीक्षा भी ग्रहण की थी। संयम के कारण भगवान को मन:पर्यय ज्ञान की भी प्राप्ति हो गई।

भगवान तीसरे दिन पारणा के लिये मिथिलापुरी में प्रविष्ट हुए। वहाँ नन्दिषेण नामक राजा ने भगवान को प्रासुक आहार देकर अक्षय पुण्य का संचय किया। देवों ने पंचाश्चर्य किये।

केवलज्ञान कल्याणक—

दीक्षा लेने के पश्चात् भगवान मल्लिनाथ छद्मस्थ दशा में केवल छह दिन रहे। उन्होने यह समय तपस्या में बिताया। फिर वे दीक्षा वन में पहुंचे और दो दिन के उपवास का नियम लेकर वे अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ हो गए। वहीं पर उन्हें पौष कृष्णा द्वितीया को पुनर्वसु नक्षत्र में लोकालोक प्रकाशन केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। देवों और इन्द्रों ने आकर भगवान के केवलज्ञान का उत्सव मनाया, समवसरण की रचना की। उसमें बैठकर भगवान ने दिव्यध्वनि के द्वारा धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया। अनेक मनुष्यों, देवों और तिर्यञ्चों ने भगवान का उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन ग्रहण किया, अनेक मनुष्यों और तिर्यचों ने मुनि और श्रावकों के योग्य संयम धारण किया।

भगवान का संघ—

भगवान के मुनि-संघ में विशाख आदि २८ गणधर थे। इनके

अतिरिक्त ५५० पूर्वधारी २६००० महाविद्वान् शिक्षक, २२०० अवधिज्ञानी, २२०० केवलज्ञानी, १४०० वादी, २६०० विक्रिया ऋद्धिधारी, और १७५० मन:पर्ययज्ञानी थे। इस प्रकार उनके मुनियों की कुल संख्या ४०००० थी। बन्धुषेणा आदि ५५००० अर्जिकायें थीं। १००००० श्रावक और ३००००० श्राविकायें थीं। असंख्यात देव और संख्यात तिर्यञ्च उनके भक्त थे।

निर्वाण कल्याणक—

भगवान अनेक देशो में विहार कर अपने उपदेश से भव्य जीवों का कल्याण करते रहे। जब उनकी आयु एक माह शेष रह गई, तब वे सम्मेदाचल पर पहुंचे। वहाँ पाच हजार मुनियों के साथ उन्होंने प्रतिमा योग धारण किया और फाल्गुन शुक्ला पंचमी को भरणी नक्षत्र में संध्या के समय निर्वाण प्राप्त किया। देवों ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी—

इनके सेवक कुबेर यक्ष और अपराजिता यक्षिणी थे।

भगवान मल्लिनाथ की जन्म नगरी मिथिला—

मिथिला नगरी उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ और इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ की जन्म नगरी है। यहाँ दोनों तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान कल्याणक हुए थे। इसलिए यह भूमि तीर्थभूमि है।

यहां अनेक सांस्कृतिक और पौराणिक घटनायें घटित हुई हैं।

—मिथिला नरेश पद्मरथ भगवान वासुपूज्य के गणधर सुधर्म का उपदेश सुनकर संसार से विरक्त हो गया। वह वासुपूज्य भगवान के चरणों में पहुंचा। वहाँ मुनि दीक्षा ले ली। मुनि पद्मरथ भगवान के गणधर बने। उन्हें अवधिज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान हो गया। पश्चात् उन्हें केवलज्ञान प्रगट हो गया और अन्त में वे मुक्त हो गए।

—जब हस्तिनापुर में अकंपनाचार्य के संघ पर बलि आदि मंत्रियों ने घोर उपसर्ग किया, उस समय मुनि विष्णुकुमार के गुरु मिथिला में ही विराजमान थे। उन्होंने क्षुल्लक पुष्पदन्त को धरणीधर पर्वत पर मुनि

विष्णुकुमार के पास उपसर्ग निवारण के लिए भेजा। गुरु के आदेशानुसार मुनि विष्णुकुमार ने हस्तिनापुर में जाकर मुनि संघ का उपसर्ग दूर किया।

—मिथिला का राजा नमि मुनि बन गया। किन्तु तीन बार भ्रष्ट हुआ। फिर वह शुद्ध मन से मुनि-व्रत पालने लगा। एक बार एक गांव में तीन अन्य मुनियों के साथ एक अवा के पास ध्यान लगाकर खड़ा था। कुम्हार आया और उसने अवा में आग सुलगाई। आग धू-धू करके जल उठी। चारों मुनि उसी में जल गये। वे शुद्ध भावों से श्रेणी आरोहण करके मुक्त हो गए।

—इसी नगर में राजा जनक हुए। उनकी पुत्री सीता थीं। जो संसार की सतियों में शिरोमणि मानी जाती है। जनक नाम नहीं, वह तो एक पदवी थी। सीता के पिता का नाम सीरध्वज जनक था।

इस वंश का अन्त कराल नामक जनक राजा के काल में हुआ। बौद्ध ग्रंथों और कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार उसने एक ब्राह्मण कन्या के साथ बलात्कार किया था। इससे प्रजा भडक उठी। उसने राजा को मार डाला। उस समय इस राज्य में सोलह हजार गांव लगते थे। इसके पश्चात् वहां राजतन्त्र समाप्त हो गया। जनता ने स्वेच्छा से गणतन्त्र की स्थापना की, जिसे विदेह गणतन्त्र कहा जाता था। इसे बज्जी संघ भी कहा जाता था। कुछ काल के पश्चात् वैशाली का लिच्छवि संघ और मिथिला का बज्जी संघ पारस्परिक सन्धि द्वारा मिल गये और दोनों का सम्मिलित संघ बज्जी संघ कहलाने लगा। तथा बज्जी संघ के अधिपति राजा चेटक को संयुक्त संघ का अधिपति मान लिया। इस संघ की राजधानी मिथिला से उठकर वैशाली में आ गई। यह नया वैशाली गण अत्यन्त शक्तिशाली बन गया। इन्हीं राजा चेटक की पुत्री त्रिशला से भारत की लोकोत्तर विभूति भगवान महावीर का जन्म हुआ। वैशाली गणसंघ का धर्म जैन धर्म था। इस संघ का विनाश श्रेणिक बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु ने किया। अजातशत्रु महारानी चेलना का पुत्र था। चेलना चेटक की सबसे छोटी पुत्री थी। इस प्रकार वैशाली अजातशत्रु की ननसाल थी।

मिथिला क्षेत्र कहां था, आज इसका कोई पता नहीं है। वर्तमान जनकपुर प्राचीन मिथिला की राजधानी का दुर्ग है। पुरनैलिया कोठी से ५ मील दूर पर सिमराओ नामक स्थान पर प्राचीन मिथिला नगरी के चिह्न अब तक मिलते हैं। नन्दनगढ़ के टीले से चांदी का एक सिक्का मिला था,

जो ईसा से १००० वर्ष पूर्व का बताया जाता है। लगता है, मिथिला तीर्थ यहीं कहीं आस पास में था।

वहां पहुंचने का मार्ग इस प्रकार है—सीतामढ़ी से जनकपुर रोड स्टेशन रेल द्वारा। वहाँ से जनकपुर २४ मील बस द्वारा। सीतामढ़ी या दरभंगा से नेपाल सरकार की रेलवे के जयनगर स्टेशन जा सकते हैं। वहाँ से उक्त रेलवे द्वारा जनकपुर १८ मील है।

भगवान मल्लिनाथ के ही शासन काल में नवां चक्रवर्ती पदम हुवा। इसके अलावा सातवें बलभद्र नन्दिमित्र, नारायण दत्त व बलिन्द्र प्रति नारायण हुवे।

★

२० भगवान मुनिसुव्रतनाथ

पूर्व भव—

अंगदेश के चम्पापुर नगर में हरिवर्मा नामक एक राज्य करते थे। एक दिन नगर के बाह्य उद्यान में अनन्तवीर्य नामक निर्ग्रन्थ मुनिराज पधारे। उनका आगमन सुनकर राजा अपने परिजनों-पुरजनों के साथ पूजा की सामग्री लेकर दर्शनों के लिए गये। वहां जाकर राजा ने मुनिराज की तीन प्रदक्षिणा दी; तीन बार वन्दना की और उनकी पूजा की। फिर हाथ जोड़कर विनयपूर्वक मुनिराज से धर्म के स्वरूप की जिज्ञासा की। मुनिराज ने विस्तारपूर्वक धर्म का स्वरूप समझाते हुए कल्याण का मार्ग बताया। उपदेश सुनकर महाराज हरिवर्मा को आत्म-कल्याण की अन्तः प्रेरणा हुई। उन्होंने बड़े पुत्र को राज्य सौप कर बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करके जैनेन्द्री दीक्षा ले ली। उन्होंने गुरु के चरणों में रहकर ग्यारह अंगो का अध्ययन किया और दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन कर तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध कर लिया। इस प्रकार चिरकाल तक नाना प्रकार के तप करके आत्म-विशुद्धि करते हुए अन्त में समाधिमरण करके प्राणत स्वर्ग के इन्द्र का पद प्राप्त किया।

गर्भ कल्याणक—

जब उस इन्द्र की आयु छह माह शेष रह गई, तब राजगृह नगर के स्वामी हरिवंश शिरोमणि काश्यपगोत्री महाराज सुमित्र के घर में छह माह तक रत्नवर्षा हुई। जब इन्द्र की आयु पूर्ण होने वाली थी, तब महाराज सुमित्र की महारानी सोमा को श्रावण कृष्णा द्वितीया को श्रवण नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में तीर्थंकर प्रभु के गर्भावतरण के सूचक सोलह स्वप्न दिखाई दिया। स्वप्नों के अनन्तर उन्हें एक तेजस्वी गजराज मुख में प्रवेश करता हुआ दिखाई दिया। उस इन्द्र का जीव तभी महारानी सोमा के गर्भ में अवतरित हुआ।

प्रातः काल होने पर स्नानादि से निवृत्त होकर महारानी हर्षित होती हुई महाराज के पास पहुंची और उन्हें रात्रि में देखे हुए स्वप्न कह

सुनाये तथा उनसे इन स्वप्नों का फल पूछा। महाराज ने अवधिज्ञान से फल जानकर महारानी को बताया—देवी ! तुम्हारे तीन जगत के स्वामी तीर्थंकर प्रभु जन्म लेंगे। सुनकर महारानी को अपार हर्ष हुआ। तभी देवों ने आकर माता का अभिषेक किया और भगवान का गर्भकल्याणक मनाया। सौधर्मेन्द्र देवियों को माता की सेवा में नियुक्त करके देवों के साथ वापिस चला गया।

जन्म कल्याणक—

यथासमय तीर्थंकर प्रभु का जन्म हुआ। चारों जाति के इन्द्र और देव, इन्द्राणी और देवियां आईं और भगवान को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर देवों ने उनका अभिषेक किया। सौधर्मेन्द्र ने उस समय बालक का नाम मुनिसुव्रतनाथ रक्खा। उनका जन्म चिन्ह कछुआ था।

भगवान की आयु तीस हजार वर्ष थी। शरीर की ऊंचाई बीस धनुष की थी। उनके शरीर का वर्ण मयूर के कण्ठ के समान नील था। वे एक हजार आठ लक्षणों और तीन ज्ञानों से युक्त थे।

दीक्षा-कल्याणक—

जब कुमार काल के साढ़े सात हजार वर्ष व्यतीत हो गये, तब पिता ने उनका विवाह कर दिया तथा राज्याभिषेक करके राज्य-भार सौंप दिया। उन्होंने सुखपूर्वक साढ़े सात हजार वर्ष तक राज्य किया। एक दिन आकाश में घनघोर घटा छाई हुई थी। तभी उनकी गजशाला के अधिपति ने यह समाचार दिया कि प्रसिद्ध यागहस्ती ने आहार छोड़ दिया है। समाचार सुनकर भगवान चिन्तन में लीन हो गये किन्तु उपस्थित सभासदों को इस समाचार से बड़ा कुतूहल हुआ। उन्होंने भगवान से इसका कारण जानना चाहा। भगवान बोले—पूर्वभव में यह हाथी तालपुर नगर का स्वामी नरपति नाम का राजा था। यह बड़ा अभिमानी था। यह पात्र-अपात्र का भेद नहीं जानता था। इसने किमिच्छक दान दिया। इस कुदान के प्रभाव से इसे तिर्यंच योनि प्राप्त हुई और यह हाथी बना।

जब भगवान सभासदों को हाथी का पूर्वभव सुना रहे थे, उस समय हाथी वहां खड़ा हुआ यह सुन रहा था। सुनकर उसे जाति स्मरण ज्ञान हो गया। उसने उसी समय संयमासंयम धारण कर लिया अर्थात् श्रावक के व्रत धारण कर लिए। भगवान के मन में भी संसार से वैराग्य हो गया। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान की वन्दना की और भगवान

के विचारों की सराहना की। उन्होंने अपने पुत्र युवराज विजय को राज्य सौंप दिया। तभी देवों ने आकर भगवान का दीक्षाभिषेक किया। फिर वे मनुष्यों और देवताओं से उठाई हुई अपराजिता नामक पालकी में बैठकर विपुल नामक उद्यान में पहुंचे। वहां दो दिन के उपवास का नियम लेकर वैशाख कृष्णा दशमी के दिन श्रवण नक्षत्र में सायंकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ समस्त सावद्य से विरत होकर और सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करके जिन-दीक्षा धारण करली। भगवान ने जो केशलुंचन किया था, उन बालों को रत्नमंजूषा में रखकर सौधर्म इन्द्र ने क्षीरसागर में प्रवाहित कर दिया। दीक्षा लेते ही संयम और भाव-विशुद्धि के प्रभाव से भगवान को मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया। दीक्षा लेकर वे ध्यानमग्न हो गये। उपवास समाप्त होने पर वे पारणा के लिए राजगृह नगर में पधारे और वहाँ वृषभदत्त राजा ने परमान्न भोजन से पारणा कराया। यद्यपि भगवान समभाव से तृप्त थे, उन्हें आहार की कोई आवश्यकता नहीं थी। किन्तु जिन शासन में आचार की वृत्ति किस तरह है, यह बतलाने के लिए ही उन्होंने आहार ग्रहण किया था। आहार दान के प्रभाव से राजा वृषभदत्त देवकृत पचातिशयो प्राप्त हुआ।

केवलज्ञान कल्याणक—

इस प्रकार तपश्चरण करते हुए छद्मस्थ अवस्था के जब ग्यारह माह व्यतीत हो गये, तब वे दीक्षा-वन में पहुचे और एक चम्पक वृक्ष के नीचे स्थित होकर दो दिन के उपवास का नियम लिया। शुक्ल ध्यान में विराजमान भगवान को दीक्षा लेने के मास, पक्ष, नक्षत्र और तिथि में अर्थात् वैशाख कृष्णा नवमी के दिन श्रवण नक्षत्र में सन्ध्या के समय घातिया कर्मो का क्षय करके केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गये। तभी इन्द्रों और देवों ने आकर भगवान के केवलज्ञान कल्याणक का उत्सव किया और समवसरण की रचना की। उसमें विराजमान होकर भगवान ने गणधरो, देवों, मनुष्यो और तिर्यञ्चों को सागार और अनगार धर्म का उपदेश दिया, जिसे सुनकर अनेकों ने संयम धारण किया, बहुतों ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये और बहुत से भव्य प्राणियो ने सम्यग्दर्शन धारण किया, अनेकों ने सम्यग्दर्शन में निर्मलता प्राप्त की।

भगवान का चतुर्विध संघ—

भगवान के संघ में मल्लि आदि अठारह गणधर थे जो अपने-अपने गणों की धर्म-रक्षा करते थे। ५०० द्वादशांग के वेत्ता, २१००० शिक्षक,

१८०० अवधिज्ञानी, १८०० केवलज्ञानी, २२०० विक्रिया ऋद्धिधारी, १५०० मनःपर्ययज्ञानी और १२०० वादी मुनि थे। इस प्रकार पर मिलाकर ३०००० मुनिराज उनके साथ थे। पुष्पदन्ता आदि ५०००० अर्जिकायें थीं। १००००० श्रावक और ३००००० श्राविकायें थीं। उनके भक्त संख्यात तिर्यञ्च और असंख्यात देव थे।

निर्वाण कल्याणक

धर्म-देशना देते हुए भगवान मुनि-संघ के साथ विभिन्न देशों में विहार करते रहे। जब उनकी आयु एक मास शेष रह गई, तब वे सम्मेद शिखर पर पहुंचे और एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण कर योग निरोध कर लिया और फाल्गुन कृष्णा द्वादशी के दिन रात्रि के अन्तिम पहर में समस्त घातिया कर्मों का क्षय करके निर्वाण प्राप्त किया, वे सिद्ध मुक्त हो गये।

उसी समय देवों और इन्द्रों ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी—

भगवान के सेवक वरुण यक्ष और बहुरूपिणी यक्षिणी थे।

भगवान मुनिसुव्रतनाथ की जन्म-नगरी—राजगृही

जैनधर्म में राजगृही नगरी का एक विशिष्ट स्थान है। वह कल्याणक नगरी है, निर्वाण-भूमि है और भगवान महावीर के धर्म-चक्र-प्रवर्तन की भूमि है। धर्म-भूमि होने के साथ-साथ वह युगों तक राजनीति का केन्द्र भी रही है और भारत के अधिकांश भाग पर उसने प्रभावशाली शासन भी किया है। इसलिये इस नगरी ने इतिहास में निर्णायक भूमिका अदा की है।

—इस नगरी में भगवान मुनिसुव्रतनाथ के गर्भ, जन्म, तप और केवलज्ञान ये चार कल्याणक हुए थे।

—इस नगर के पांच पर्वतों में वैभार, ऋषिगिरि, विपुलगिरि और बलाहक ये चार पर्वत सिद्धक्षेत्र रहे हैं। यहां से अनेक मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया है, जैसा कि आचार्य पूज्यपाद ने संस्कृत निर्वाण भक्ति में

बताया है।

—राजपुर नरेश जीवन्धर कुमार भगवान महावीर से दीक्षा लेकर मुनि हो गये। वे भगवान के साथ विहार करते हुए विपुलाचल पर पधारे। जब पावा में भगवान महावीर का निर्वाण हो गया, उसके कुछ काल पश्चात् मुनि जीवन्धर कुमार भी विपुलाचल से मुक्त हो गये।

—भगवान महावीर के सभी गणधर विपुलाचल से ही मुक्त हुए।

—अन्तिम केवली जम्बू स्वामी का निर्वाण भी विपुलाचल से ही हुआ, ऐसी भी मान्यता है।

—उज्जयिनी नरेश धृतिषेण (मुनि अवस्था का नाम काल सन्दीव), पाटलिपुत्र नरेश वैशाख, विद्युच्चर, गन्धमादन आदि अनेक मुनियों ने राजगृह के इन्हीं पर्वतों से मुक्ति प्राप्त की थी।

—भगवान महावीर को ऋजुकूला नदी के तट पर वैशाख शुक्ला दसमी को केवलज्ञान हुआ था। देवों ने तत्काल समवसरण की रचना की। किन्तु गणधर न होने के कारण भगवान की दिव्य ध्वनि नहीं खिरी। तब इन्द्र वेष बदलकर इन्द्रभूति गौतम के पास पहुंचा और किसी उपाय से उन्हें भगवान के समवरण में ले गया। गौतम भगवान के चरणों में पहुंच कर अभिमान रहित होकर मुनि बन गये। तभी विपुलाचल पर श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को भगवान की प्रथम दिव्य ध्वनि खिरी और धर्म-चक्र-प्रवर्तन हुआ। इस समय अन्तिम तीर्थंकर महावीर का धर्म-शासन प्रवर्त रहा है, इसलिये उनके शासन के अनुयायियों के लिए न केवल इस प्रथम दिव्य ध्वनि का, अपितु विपुलाचल का भी विशेष महत्व है। इस बात से विपुलाचल का महत्व जैन शासन में कितना हो गया, इसका मूल्याङ्कन करने के लिए यहां एक ही बात का उल्लेख करना पर्याप्त होगा। पौराणिक साहित्य में किसी कथा के प्रारम्भ में कहा जाता है—'विपुलाचल पर भगवान महावीर का समवसरण आया हुआ था। मगध नरेश श्रेणिक विम्बसार भगवान के दर्शनों के लिए पहुंचे। उन्होंने भगवान की वन्दना की और अपने उचित स्थान पर बैठ गये। फिर उन्होंने गौतम गणधर से जिज्ञासा की। तब गौतम गणधर बोले।' इस प्रकार प्रत्येक प्रसंग का प्रारम्भ होता है। गौतम गणधर से प्रश्न अकेले श्रेणिक महाराज ने ही नहीं पूछे थे, और भी अनेक व्यक्तियों ने पूछे थे। उनसे केवल विपुलाचल पर ही प्रश्न नहीं पूछे गये थे, अन्य स्थानों पर भी पूछे गये थे। किन्तु दिगम्बर परम्परा में

कथा कहने की एक अपनी शैली रही है और उस शैली में विपुलाचल को विशेष महत्ता दी गई है। संभवतः इसका कारण यही रहा है कि इन्द्रभूति गौतम जैसे प्रकाण्ड विद्वान् का गर्व यहीं आकर गलित हुआ, यहीं उन्होंने मुनि-दीक्षा ली और फिर यहीं भगवान की प्रथम धर्म-देशना हुई, जिससे धर्म का विच्छिन्न तीर्थ पुनः प्रवर्तित हुआ। यह कोई सामान्य घटना नहीं थी। किसी धर्म के इतिहास में यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है।

—मुनि सुकौशल और मुनि सिद्धार्थ (सुकौशल के पिता) को राजगृह के पर्वत से पारणा के लिए नगर को जाते हुए मार्ग में व्याघ्री (सुकौशल की पूर्व भव में माता जयावती) ने मार डाला। दोनों मुनि समता भाव से मरे और सर्वार्थसिद्धि विमान में अहमिन्द्र हुए।

मगध-साम्राज्य की राजधानी के रूप में राजग्रही—

राजगृह पर यद्यपि शताब्दियों तक हरिवंशी नरेशों का शासन रहा, किन्तु उसकी प्रसिद्धि सर्वप्रथम जरा सन्ध के काल में हुई वह बड़ा प्रतापी नरेश था। उसने बाहु बल द्वारा भरत क्षेत्र के आधे भाग पर अधिकार कर लिया था। मथुरा नरेश कंस उसका दामाद और माण्डलिक राजा था। वह बड़ा क्रूर और अंहकारी था। श्री कृष्ण ने उसे मारकर प्रजा को उसके अन्याय-अत्याचारों से मुक्त किया किन्तु उससे यादव, सम्राट जरा सन्ध के कोप के शिकार हो गये। उसने सत्रह बार मथुरा के यादवो पर आक्रमण किये। इन रोज-रोज के आक्रमणों से परेशान होकर और शक्ति सचित करने के लिये, श्री कृष्ण के नेतृत्व में यादवों ने मथुरा, शौर्यपुर और वीर्यपुर को छोड़ दिया और पश्चिम में जाकर, समुद्र के मध्य में द्वारिका बसा कर रहने लगे।

कुछ समय पश्चात् गुरु क्षत्र के मैदान-में जरा सन्ध और यादवों का निर्णायिक युद्ध हुवा। उसमें श्री कृष्ण ने जरासन्ध को मार दिया और वे अर्ध चक्री बने। नारायण श्री कृष्ण ने अपनी राजधानी द्वारिका को ही रक्खा। इससे राजग्रह—जो उस समय गिरि व्रज कहलाती थी—का महत्त्व कम हो गया।

इसके बाद राजग्रह का राजनैतिक महत्त्व शिशु नाग-वंशी सम्राट श्रेणिक बिम्बसार के काल में बढ़ा। श्रेणिक ने राजग्रह को ही अपनी राजधानी बनाया। उसका शासन काल ई० ५०६०१ से ५५२ माना जाता है। श्रेणिक के शासन काल में मगध साम्राज्य उत्तरी भारत का सर्वाधिक

शक्तिशाली राज्य माना जाता था। श्रेणिक प्रारम्भ में भ० बुद्ध का अनुयायी था किन्तु बाद में, वह भगवान महावीर का अनुयायी बन गया।

श्रेणिक के पश्चात, अज्ञात शत्रु राजग्रही का शासक बना। उसने अपने वृद्ध पिता को कारागार में डालकर बलात शासन हथिया लिया। उसने अनेक राज्यों को जीतकर, उन्हें अपने राज्य में मिला लिया। वैशाली और मल्ल गण संघो का विनाश उसी ने किया। उसके राज्य काल के प्रारम्भ के वर्षो में राजग्रह मगध साम्राज्य की राजधानी रही, किन्तु बाद में उसने चम्पा को अपनी राजधानी बना लिया। उसके बाद उसके पुत्र उदायि ने पाटलि पुत्र नगर बसा कर, उसे अपनी राजधानी बनाया। इसके बाद राजग्रह कभी अपने पूर्व गौरव को प्राप्त नहीं कर सकी।

वर्तमान राजग्रह—

आजकल राजग्रह नगर, एक साधारण कस्बा है। उसका महत्व तीर्थ के रूप में है। जैन लोग राजग्रह में, विपुलाचल, रत्ना गिरि, उदय गिरि, श्रवणगिरि और वैभार गिरि को अपना तीर्थ मानते है। इन पांचों पहाड़ियों को, पंच पहाड़ी भी कहा जाता है। बौद्ध लोग गृद्धकूट पर्वत को अपना तीर्थ मानते है तथा सप्तपर्णी गुफा में प्रथम बौद्ध संगीति हुई थी, ऐसा माना जाता है।

यहां सोन भण्डार गुफा, मनियार मठ, बिम्बसार बन्दी ग्रह, जरा संध का अखाडा और प्राचीन किले के अवशेष दर्शनीय हैं। यहां गर्म जल के स्रोत है, जिनका जल अत्यन्त स्वास्थ्य कर है।

भगवान मुनिसुव्रत के ही शासन काल में ही दशवें चक्रवर्ती हरिषेण हुवे। इसके अलावा आठवें बलभद्र राम, नारायण लक्ष्मण व रावण प्रति नारायण हुवे।

★

२१. भगवान नमिनाथ

पूर्व भव—

भरत क्षेत्र के वत्स देश में कौशाम्बी नगरी का राजा पार्थिव था। वह इक्ष्वाकु वंशी था। उसके शौर्य की गाथायें सारे देश में विख्यात थीं। शत्रुदल उसके नाम से ही कापता था। उसकी महारानी सुन्दरी से सिद्धार्थ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। एक दिन मनोहर उद्यान में परमावधिज्ञान के धारक मुनिराज मुनिवर पधारे। राजा उनके दर्शनों के लिये गया और उनसे धर्म का स्वरूप पूछा। मुनिराज ने धर्म का यथार्थ स्वरूप बतलाया। उसे सुनकर राजा को संसार असार लगने लगा। वह विचार करने लगा- संसार में प्राणी मरण रूपी मूलधन लेकर मृत्यु का कर्जदार हो रहा है और प्रत्येक जन्म में उसका यह कर्ज निरन्तर बढ़ता जा रहा, है जिसके कारण वह नाना प्रकार के कष्ट भोग रहा है। जबतक यह प्राणी रत्नत्रय रूपी धन का उपार्जन कर मृत्यु रूपी साहूकार को व्याज सहित ऋण नहीं चुकाता तब तक इसके दु:खो का अन्त कैसे हो सकता है। यह विचार करके उसने अपने पुत्र को राज्य सोपकर मुनिराज मुनिवर से प्रव्रज्या ग्रहण करली। सिद्धार्थ न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा।

एक दिन राजा सिद्धार्थ ने अपने पिता पार्थिव मुनिराज के समाधिमरण का समाचार सुना। इस समाचार से उसके मन में भारी निर्वेद हो गया। उस समय मनोहर उद्यान में महावल नामक केवली भगवान विराजमान थे। उनका उपदेश सुनकर राजा ने अपने पुत्र श्रीदत्त को राज्य-भार देकर केवली भगवान से दिगम्बर मुनि की दीक्षा लेली। परिणाम विशुद्धि के कारण उसे तत्काल क्षायिक सम्यग्दर्शन हो गया। उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन करके सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन किया। फलत: उसे तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। अन्त में समाधिमरण करके अपराजित नामक अनुत्तर विमान में अतिशय ऋद्धि का धारक अहमिन्द्र हुआ।

गर्भ कल्याणक—

बङ्ग देश में मिथिला नगरी थी। वहाँ के शासक इक्ष्वाकुवंशी

काश्यप गोत्री, महाराज विजय थे। उनकी महारानी का नाम वप्पिला था। जब उक्त अहमिन्द्र की आयु में छह मास शेष रह गये तबसे देवों ने इन्द्र की आज्ञा से महाराज विजय के महलों में रत्नवर्षा प्रारम्भ कर दी। जब अहमिन्द्र की आयु पूर्ण हुई उस दिन अर्थात् आश्विन कृष्णा द्वितीया के दिन आश्विनी नक्षत्र में रात्रि के पिछले पहर में सुख निद्रा में सोई हुई महारानी को तीर्थंकर प्रभु के गर्भावतरण के सूचक सोलह शुभ स्वप्न दिखाई दिये। उसी समय उन्होंने मुख में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। तभी अहमिन्द्र के जीव ने महारानी के गर्भ में अवतार लिया।

स्वप्नों के पश्चात् महारानी की निद्रा भंग हो गई। वे आवश्यक कृत्यों से निवृत्त होकर मंगल वस्त्राभूषण धारण करके महाराज के निकट पहुंची और देशावधि ज्ञान के धारक महाराज से देखे हुए स्वप्नों का वर्णन करके उनका फल पूछा। राजा ने विस्तार से स्वप्नो का फल बताकर कहा—देवी ! तुम्हारे गर्भ में तीर्थंकर प्रभु ने अवतार लिया है। उसी समय इन्द्रों और देवों ने आकर तीर्थंकर प्रभु गर्भकल्याण महोत्सव किया।

जन्म-कल्याणक—

वप्पिला महादेवी ने आषाढ कृष्णा दशमी के दिन स्वाति नक्षत्र के योग में समस्त लोक के स्वामी महाप्रतापी पुत्र को जन्म दिया। देवो और इन्द्रो ने उसी समय आकर भगवान का जन्म कल्याणक महोत्सव किया। बालक को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर उनका क्षीरसागर के जल से जन्माभिषेक किया। सौधर्मेन्द्र ने बालक का नाम नमिनाथ रखा।

भगवान नमिनाथ की आयु दस हजार वर्ष की थी। उनका शरीर पन्द्रह धनुष ऊंचा था। शरीर की कान्ति स्वर्ण के समान थी। उनका चिन्ह नील कमल था। उनकी आयु के ढाई हजार वर्ष कुमार काल में व्यतीत हुए। उसके पश्चात् पिता ने उनका राज्याभिषेक कर दिया। उन्होंने ढाई हजार वर्ष पर्यन्त राज्य शासन किया।

दीक्षा कल्याणक —

एक दिन आकाश मेघाच्छन्न था। शीतल पवन बह रही थी। मौसम सुहावना था। ऐसे समय भगवान नमिनाथ हाथी पर आरूढ होकर वन

विहार के लिये निकले। वहाँ आकाश मार्ग से दो देव आये और भगवान को नमस्कार करके हाथ जोड़कर अपना परिचय देते हुए अपने आने का प्रयोजन कहने लगे—देव ! हम दोनों पूर्व जन्म में धातकी खण्ड द्वीप में रहते थे। वहाँ हमने तपस्या की। फलतः हम सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न हुए। उत्पन्न होने के दूसरे दिन पूर्व विदेह क्षेत्र में स्थित वत्सकावती देश की सुसीमा नगरी में भगवान अपराजित तीर्थंकर के केवलज्ञान कल्याणक की पूजा के लिये अन्य देवों के साथ हम दोनों भी गये। वहाँ समवसरण में प्रश्न हुआ कि इस समय भरत क्षेत्र में भी क्या कोई तीर्थंकर है ? तब सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान अपराजित ने उत्तर दिया—'वंग देश की मिथिला नगरी में अपराजित स्वर्ग से अवतरित होकर नमिनाथ हुए हैं। उन्हें जल्दी ही केवलज्ञान उत्पन्न होगा और वे धर्म तीर्थ की स्थापना करेंगे। इस समय ग्रहस्थ अवस्था में राज्य लक्ष्मी का भोग कर रहे हैं।' भगवान के वचन सुनकर कुतूहलवश हम लोग आपके दर्शनों के लिये आये हैं।

देवों की बात सुनकर भगवान नगर में लौट आये। उन्होंने अवधि-ज्ञान से जाना कि अपराजित तीर्थंकर और मेरा जीव पिछले भव में अप-राजित विमान में देव थे। उन्होंने मनुष्य भव पाकर जन्म-मरण की शृंखला का नाश करने का उद्योग किया, जिसमें वे सफल हुए और उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। किन्तु मैं अनादिकाल के संस्कारवश अभी तक राग-द्वेष के इस प्रपंच में पड़ा हुआ हूँ। मेरा कर्तव्य इस प्रपंच को समाप्त करना है। मुझे अब उसी का उद्योग करके शुद्ध आत्म स्वरूप की उपलब्धि करना है।

भगवान के मन से राग की वासना क्षण मात्र में तिरोहित हो गई और भोगों के प्रति उनके मन में निर्वेद भर उठा। भगवान की वैराग्य-भावना होते ही सारस्वत आदि लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान की पूजा और भगवान के विचारों की सराहना की तथा वे अपने स्थान को लौट गये। भगवान ने अपने पुत्र सुप्रभ को राज्य-भार सौंप दिया। तभी देवों और इन्द्रों ने आकर भगवान का दीक्षाभिषेक किया। फिर भगवान उत्तर कुरू नामक पालकी में आरूढ़ होकर चैत्रवन में पहुंचे। वहाँ उन्होंने बेला का नियम लेकर आषाढ कृष्णा दशमी के दिन अश्विनी नक्षत्र में सायंकाल के समय सम्पूर्ण आरम्भ और परिग्रह का त्याग करके एक हजार राजाओं के साथ जैनेन्द्री दीक्षा लेली। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्यय नामक ज्ञान प्राप्त हो गया।

केवलज्ञान-कल्याणक—

भगवान पारणा के लिए वीरपुर नामक नगर में पधारे। वहाँ राजा दत्त ने परमान्न का आहार देकर अक्षय पुण्य का लाभ लिया।

भगवान ग्रामानुग्राम बिहार करते हुए नाना प्रकार के कठोर तप करते रहे। इस प्रकार नौ वर्ष तक उन्होंने आत्म-साधना में बिताये। तब वे बिहार करते हुए अपने दीक्षा वन में पहुंचे। वहाँ वे एक वकुल वृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर ध्यानारूढ़ हो गये। यहीं पर इन्हें मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी के दिन सायंकाल के समय समस्त लोकालोक के सम्पूर्ण द्रव्यों और पर्यायों का युगपत् ज्ञान करने वाला निर्मल केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इन्द्रों और देवों ने उसी समय आकर केवलज्ञान कल्याणक का उत्सव किया। इन्द्र की आज्ञा से कुवेर ने दिव्य समवसरण की रचना की, जिसमें गन्धकुटी में सिंहासन पर विराजमान होकर भगवान ने जगत् का कल्याण करने वाला उपदेश देकर धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन किया। भगवान का उपदेश सुनकर अनेक मनुष्यों ने सकल सयंम धारण किया, अनेक मनुष्यों और तिर्यंचों ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये, अनेक मनुष्यों, तिर्यंचो और देवों ने सम्यग्दर्शन धारण किया।

भगवान का चतुर्विध संघ—

भगवान के चतुर्विध संघ में सुप्रभार्य आदि सत्रह गणधर थे। ४५० मुनि समस्त पूर्वो के ज्ञाता, १२६०० व्रती शिक्षक मुनि, १६०० अवधि-ज्ञानी, १६०० केवलज्ञानी, १५०० विक्रियाऋद्धिधारी, १२५० मनःपर्यय-ज्ञानी और १००० वादी मुनि थे। इस प्रकार समस्त मुनियों की संख्या २०००० थी। मंगिनी आदि ४५००० आर्यिकायें थीं। १००००० श्रावक और ३००००० श्राविकायें थीं। उनके भक्तों में संख्यात तिर्यंच और असंख्यात देव-देवियाँ थीं।

निर्वाण कल्याणक

भगवान ने सम्पूर्ण आर्यक्षेत्र में विहार करके समीचीन धर्म का उप-देश दिया। जब उनकी आयु में एक माह शेष रह गया, तब उन्होंने बिहार बन्द कर दिया और सम्मेद शिखर पर जा पहुंचे। वहाँ उन्होंने एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण कर लिया और वैशाख कृष्णा चतुर्दशी

के दिन रात्रि के अन्तिम प्रहर में अश्विनी नक्षत्र में अघातिया कर्मो का क्षय करके अक्षय पद प्राप्त किया। वे सिद्ध परमेष्ठी बन गये। देवों और इन्द्रों ने आकर नमिनाथ स्वामी का निर्वाण कल्याणक महोत्सव किया।

यक्ष-यक्षिणी—

भगवान नमिनाथ के सेवक यक्ष का नाम भ्रकुटि और यक्षिणी का नाम चामुण्डी था।

भगवान नमिनाथ के ही शासन काल में ११ वें चक्रवर्ती जयसेन हुवे।

२२. भगवान नेमिनाथ

पूर्व भव—

पश्चिम विदेह क्षेत्र में सीतोदा नदी के उत्तर तट पर सुगन्धिला नामक देश था जिसमें सिंहपुरनगर का स्वामी अर्हद्दास था। उसकी रानी जिनदत्ता ने महापुण्यशाली जीव को जन्म दिया जिसका नाम अपराजित रक्खा गया। एक दिन राजा अर्हद्दास तीर्थंकर विमल वाहन के दर्शनों को गया और उपदेश सुन वैराग्य को प्राप्त हो, पुत्र को राज्यभिषेक कर जिन दीक्षा लेली। उसके पुत्र अपराजित ने भी अणुव्रत धारण किये, वह बड़ा धार्मिक था। भगवान विमल वाहन के मोक्ष होते ही उसने उनके दर्शन करने का व्रत ले लिया जो संभव ही नही था। उसे निराहार रहते आठ दिन बीत गये। तब सौधर्म देव की आज्ञा से कुबेर ने भगवान विमल वाहन का दिव्य रूप बनाकर राजा अपराजित को दर्शन कराये तब राजा ने आहार ग्रहण किया।

एक दिन आकाश से दो चारण ऋद्धिधारी मुनि विहार करते पधारे। राजा ने उनकी बन्दना की और उपदेश सुना और उनसे कहा·— "पूज्य ! मैंने आपको कहीं पहले भी देखा है।" ज्येष्ठ मुनि बोलें— "राजन ! तुम ठीक कहते हो। इस जन्म में तो नही, पूर्व जन्म में देखा है।" राजा के पूछने पर मुनिराज ने बतलाया कि—

"पुष्करार्ध द्वीप के पश्चिम सुमेरु की पश्चिम दिशा में महा नदी के उत्तर तट पर गन्धिल नामक देश में सूर्य प्रभ नाम का राजा था, उसकी रानी धारिणी से तीन पुत्र-चिन्ता गति, मनोगति, और चपल गति थे। वहीं पास में अरिन्दपुर नगर का राजा अरिजय था, जिसकी अंजितसेना रानी से प्रीतिमती नामक पुत्री थी। पुत्री की प्रतिज्ञा थी कि मेरु पर्वत की तीन प्रदक्षिणा में जो उसे जीत लेगा उसे ही वरण करेगी। इस प्रतियोगिता में चिन्ता गति ने उसे जीत लिया परन्तु उससे अपने लघु भ्राता से विवाह करने को कहा। प्रीतिमती इसके लिये तैयार न हुई और न चिन्ता गति ही उससे विवाह को तैयार हुवा। इससे प्रीतिमती ने निराश हो आर्यिका दीक्षा लेली। उसका यह साहस देखकर इन तीनों भाइयों ने भी मुनि दीक्षा लेली। तप करके वे तीनों भाई मरकर, चौथे स्वर्ग में सामानिक जाति के

देव हुवे।

आयु पूर्ण होने पर, दोनों छोटे भाई पूर्व विदेह क्षेत्र के पुष्कलावती देश में विजयार्ध पर्वत की उत्तरी श्रेणी में गगनवल्लभनगर के राजा गगन-चन्द्र और रानी गगनसुन्दरी के, हम दोनों अमितगति तथा अमित तेज नामक पुत्र हुवे। हम दोनों विद्याओं से युक्त थे। एक दिन हम दोनों ने पुण्डरीकिणीनगरी में स्वयप्रभ तीर्थंकर के दर्शन करते समय अपने बड़े भाई के बारे में पूछा। भगवान ने बताया कि वह इस समय सिंहपुरनगर में अपराजित नामका राजा है। हम दोनों ने मुनि दीक्षा लेली और स्नेह वश अब तुम्हारे पास आये हैं। तेरी आयु केवल एक माह शेष है, इसलिये तू आत्म कल्याण कर।"

इतना वह मुनि युगल तो विहार कर गया। अपराजित राजा ने पुत्र प्रीतिकर को राज्य दे दीक्षा लेली। तप कर, व मरकर सौलहवें स्वर्ग के सातंकर नामक विमान में देव हुआ। बाइस सागर की उसकी आयु थी।

कुरु जांगल देश में हस्तिनापुर के राजा श्रीचन्द की श्रीमती रानी के वह देव आयु पूर्ण होने पर, सुप्रतिष्ठ नामक पुत्र हुवा और कुमार अवस्था होने पर उसका विवाह सुनन्दा से हुवा। पिता ने उसे राज्य सौंप दीक्षा लेली। राजा सुप्रतिष्ठ बडा धार्मिक था और सम्यग्दृष्टि था। एक दिन आकाश में उल्कापात देखकर उसे वैराग्य हुवा। पुत्र सुदृष्टि को राज्य दे उसने मुनि दीक्षा लेली। उसने ग्यारह अगो का अभ्यास किया व सोलह कारण भावनाओ का चिन्तन कर तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया। अन्त समय समाधिमरण कर जयन्त नामक अनुत्तर विमान में महर्द्धिक अहमिन्द्र हुवा। उसकी आयु तैतीस सागर थी।

भगवान शीतल नाथ के समय में राजा हरि हुवा। जिससे "हरि-वंश" की प्रसिद्धि हुई। इसी वंश में बाद में मुनिसुव्रत तीर्थंकर हुवे। और बहुत काल बाद इसी वंश में इक्कीसवे तीर्थंकर नमिनाथ हुवे। इसी वंश में आगे चलकर यदु नामक राजा हुवा जो बड़ा प्रतापी था। इससे ही यदु वंश चला। इसी के वंश में दो भाई शूर व सुवीर हुवे। शूर ने शौर्यपुरनगर बसाया और सुवीर ने मथुरा में शासन किया। शूर के अन्धक वृष्णि और सुवीर के भोजकवृष्णि पुत्र हुवे। अन्धक वृष्णि के दस पुत्र हुवे जिनके नाम समुद्र विजय, वासुदेव आदि थे। उसके कुन्ती व माद्री नामकी दो पुत्रियां भी हुई।

एक दिन अन्धक वृष्णि राजा को उपदेश सुन वैराग्य हुवा। उसने अपने बड़े पुत्र समुद्र विजय को राज्य दे, मुनि दीक्षा लेली। समुद्र विजय ने आठ भाइयों के विवाह किये और शिवा देवी को पटरानी बनाया। छोटा भाई वासुदेव का विवाह अभी नहीं हुवा था वह बड़ा सुन्दर था। वह घर से निकल गया और अपनी कला से अनेक कन्याओं से विवाह किया जिनमें कंस की बहन देवकी भी थी। जिससे कृष्ण नारायण का जन्म हुवा और रोहिणी से बलभद्र बलराम हुवा। कुन्ती व माद्री दोनों का विवाह हस्तिनापुर के राजा पाण्डु से हुवा था।

गर्भ व जन्म कल्याणक—

आयु पूर्ण होने पर सुप्रतिष्ठ का जीव, जो जयन्त नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र था, शौर्यपुर में महाराज समुद्र विजय की महारानी शिवा देवी के गर्भ में आया। यह बात अवधिज्ञान से जानकर इन्द्र ने छः माह पूर्व ही कुवेर से रत्न वर्षा कराई। नौ मास व्यतीत होने पर बैसाख शुक्ला त्रयोदशी की शुभ तिथि में जब चन्द्रमा का चित्रा नक्षत्र के साथ संयोग था, तब शिवादेवी ने सुन्दर बालक को जन्म दिया। जन्म होते ही देव लोक से देवता जन्म कल्याणक मनाने चल पड़े। माता को सुलाकर, इन्द्राणी ने बालक को इन्द्र को सौंपा। इन्द्र ने सब देवताओं के साथ सुमेरु पर्वत पर पाण्डुक शिला पर भगवान का अभिषेक किया। भगवान का नाम नेमिनाथ रक्खा।

भगवान नेमिनाथ शौर्यपुर में बढ़ने लगे। तभी प्रतिनारायण राजग्रह के राजा जरा सन्ध ने यादवों से क्रुद्ध हो, उन पर हमला कर दिया। बहुत समय तक कितनी ही बार युद्ध हुवा। नारायण कृष्ण ने जरा सन्ध के दामाद कंस को, जो मथुरा का राजा था, मार डाला था, इससे जरा सन्ध यादवों के पीछे पड़ गया। यादव लोगों की शक्ति कम थी, इसलिये यादव लोग शौर्यपुर, मथुरा व वीर्यपुर छोड़कर, पश्चिम की ओर चले गये और द्वारिकापुरी को राजधानी बनाया। समुद्र विजय भी नेमिनाथ आदि परिवार के साथ द्वारिकापुरी चले गये। सब यादव द्वारिकापुरी में जरा सन्ध से युद्ध करने को शक्ति बढ़ाने लगे। जरा सन्ध को मालूम नहीं था कि यादव द्वारिकापुरी चले गये। उसे मालूम था कि रास्ते में ही उन सबने आत्म हत्या करली। उसे ही उसे मालूम हुवा कि वें द्वारिका में है तो उसने चढ़ाई कर दी। इधर द्वारिकापुरी से यादव भी बलराम, कृष्ण व नेमिनाथ आदि सेना ले कुरुक्षेत्र में आ डटे। कुरुक्षेत्र में जरा सन्ध प्रतिनरायण और

कृष्ण नारायण व बलराम बलभद्र का बड़ा भारी युद्ध हुवा जिसमें कृष्ण ने जरा सन्ध को मार डाला और तीन खण्ड का स्वामी बन, द्वारिका को ही राजधानी बना, वहां बड़े वैभव के साथ सब यादव वंशी रहने लगे।

नेमिनाथ का एव शौर्य प्रदर्शन—

अब तक नेमिनाथ बड़े हो चुके थे। उनका बल अपार था। कृष्ण ने उनके बल की परीक्षा लेनी चाही और बाहु युद्ध का प्रस्ताव रक्खा। नेमिनाथ ने कहा युद्ध की आवश्यकता नहीं। यदि बाहुबल जानना है तो कोई उनका पैर ही विचलित कर दे। कृष्ण ने बहुत जोर लगाया परन्तु वे उनका पैर भी न हिला सके। अन्त में हार मानकर कृष्ण ने कहा, "भगवान आपका बल लोकोत्तर है।" इस घटना से कृष्ण का मन शंकित हो गया कि इनके रहते उसका राज्य स्थिर नहीं रह सकता। इसलिये उन्होंने जूनागढ के राजा उग्रसैन की पुत्री राजकुमारी राजमती के साथ नेमिनाथ का विवाह तय कर दिया।

नेमिनाथ का विवाह आयोजन—

श्रावण मास की वर्षा ॠतुयें यादवों की बरात सजधज कर नेमिनाथ के विवाह के लिये द्वारिका से चलकर जूनागढ़ पहुंची तो बलभद्र बलराम, नारायण कृष्ण और बासुदेव व समुद्र बिजय आदि व दूसरे सब यदुवंशी नेमि-नाथ को सजाकर उसको घेरे उसके साथ चल रहे थे। जैसे ही वर का रथ आगे बढ़ा तो उन्होंने देखा कि काफी भय विव्हल पशु एक बाड़े में बंद हैं। पूछने पर पता चला, कि विवाह में जो बाराती मांसभक्षी हैं, उनके लिये इन पशुओं का निरोध किया गया है। नेमिनाथ को इससे अति क्लेश हुवा और वैराग्य भी हुवा। उधर अवसर जान लौकान्तिक देव आये और भगवान से धर्म तीर्थ के प्रवर्तन की प्रार्थना की क्योंकि उस समय पाप की प्रवृत्ति बढ़ गई थी। नेमिनाथ जी ने सब पशुओं को छुड़वा दिया और दीक्षा ले लेने का संकल्प कर लिया।

भगवान का दीक्षा कल्याणक—

सभी यादवों ने नेमिनाथ को बहुत समझाया। परन्तु वे संकल्प से न डिगे। तभी देवों ने भी मिलकर पालकी तैयार की और नेमिनाथ जी को बैठाकर गिरनार पर्वत पर ले गये। वहां नेमिनाथ ने "ॐ नमः सिद्धेभ्यः" कहकर दीक्षा ले पंच मुष्ठियों से केशलुंचन किया और ध्यान में लीन हो

गये। देवों ने तप कल्याणक मनाया।

राजमती द्वारा दीक्षा—

आभूषणों से लदी राजकुमारी राजमती, नेमिनाथ जैसे वर को पाकर फूली नहीं समा रही थी कि तभी उसे विस्फोट के समान यह समाचार मिला कि नेमिनाथ ने विवाह से मुख मोड़कर दिगम्बर दीक्षा लेली है। उसके लिये यह वज्रपात था। उसने भी भगवान नेमिनाथ की राह पर चलने का संकल्प कर लिया। उसने सब आभूषण त्याग दिये और सन्यासधार गिरनार पर चढ़ गई और आर्यिका के व्रत धारण कर लिये।

केवलज्ञान कल्याणक—

भगवान ने घोर तप किया और केवल छप्पन दिन की तपस्या के बाद ही आश्विन शुक्ला प्रतिपदा के दिन उन्हें केवलज्ञान हो गया। चारों जाति के देवों ने मिलकर गिरनार पर भगवान का ज्ञान कल्याणक उत्सव मनाया। भगवान के समवशरण की रचना हुई और भगवान ने धर्म चक्र प्रवर्तन किया।

भगवान के संघ में वरदत्त आदि ११ गणधर, ४०० पूर्व धारी, ११८०० शिक्षक, १५०० अवधिज्ञानी, १५०० केवली, ९०० विपुल मति, ८०० वादी, ११०० विक्रिया ऋद्धिधारी मुनि थे। राजमती आदि ४०,००० आर्यिकायें थी, १६९००० श्रावक और ३३६००० श्राविकायें थी।

भगवान की भविष्यवाणी—

भगवान विहार करते एक बार द्वारिका पधारे। समाचार मिलते ही समुद्र विजय, वासुदेव बलराम व कृष्ण आदि सभी यादव दर्शनों को गये। वहाँ, बलदेव ने भगवान से द्वारिकापुरी और यादव के अन्त का हाल मालूम किया।

भगवान ने बताया—"हे बलराम ! द्वारिकापुरी आज से बारह वें वर्ष में मद्यप यादवों की उद्दंडता के कारण द्वैपायन मुनि के द्वारा क्रोध करने परभस्म होगी। अन्तिम समय में तुम और कृष्ण कौशास्बी वन में भूखे प्यासे घूमोंगें। तब तुम आहार का प्रबन्ध करने जाओगे, तो जरत्कुमार

के वाण से कृष्ण की मृत्यु होगी। उसकी मृत्यु का निमित्त पाकर तुम्हें वैराग्य होगा और तुम तप करके ब्रह्म स्वर्ग में देव होगे।" भगवान तो विहार कर गये। सब यादवों के पूरा प्रयत्न करने पर भी ऐसा ही हुवा जैसी भगवान ने भविष्य वाणी की थी।

भगवान का निर्वाण कल्याणक—

भगवान नेमिनाथ उपदेश करते उत्तरा पथ से सौराष्ट्र देश में गिरनार पर्वत पर पहुंचे। यहां भगवान एक माह तक योग निरोध कर ध्यान लीन हो गये। उन्होंने अघातिया कर्मों का नाश कर, आषाढ़ कृष्णा अष्ठमी के दिन प्रदोष काल में, अपने जन्म नक्षत्र के रहते ५३६ मुनियों सहित सिद्ध पद प्राप्त किया। ८००० शिष्यों ने मुक्ति प्राप्त की। चारों निकाय के देवों व इन्द्रों ने आकर भगवान का निर्वाण कल्याणक महोत्सव मनाया। यादवों में समुद्र विजय आदि नौ भाइयों ने, देवकी आदि रानियों के पुत्रों ने भी बाद में गिरनार से मोक्ष प्राप्त किया।

भगवान नेमिनाथ के ही समय में नौवें बलभद्र बलदेव, कृष्ण नारायण और जरा सिन्ध प्रतिनारायण हुवे। इन्हीं के शासन काल में बारहवें चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त हुवे।

★

२३. भगवान पार्श्वनाथ

पूर्व भव—

जैन ग्रन्थों में भगवान पार्श्वनाथ के पूर्व के १० जन्मों का वर्णन मिलता है। उनमें परस्पर में कहीं-कहीं भेद है, परन्तु वह भेद साधारण ही है और वह नगण्य है। यहाँ उस भेद का भी संकेत किया जायगा, जिससे सभी जैनाचार्यों के दृष्टिकोण का परिचय मिल सके।

प्रथम भव—

जम्बूद्वीप के दक्षिण भरत क्षेत्र में सुरम्य नामक एक बड़ा देश था। उसमें पोदनपुर नामक विशाल नगर था। उस नगर का शासक अरविन्द नामक नरेश था जो प्रजावल्लभ था। उसके नगर में विश्वभूति नामक ब्राह्मण और उसकी पत्नी अनुन्धरी रहते थे। विश्वभूति राजपुरोहित थे। उनके दो पुत्र थे—कमठ और मरुभूति। कमठ अत्यन्त नीच प्रकृति का था, जबकि मरुभूति अत्यन्त धार्मिक वृत्ति वाला था। कमठ की स्त्री का नाम वरुणा और मरुभूति की स्त्री का नाम वसुन्धरी था। वरुणा सदाचारिणी और वसुन्धरी दुराचारिणी थी। एक दिन विश्वभूति ने अपना पद अपने पुत्र को देकर और घरबार छोड़कर जिनदीक्षा धारण करली। अनुन्धरी ने भी प्रव्रज्या धारण करली।

राजा अरविन्द को राजपुरोहित की दीक्षा का समाचार ज्ञात हुआ। उसने राजपुरोहित के दोनों पुत्रों को राजसभा में बुलाया। उनमें कनिष्ठ मरुभूति को विशेष सज्जन समझकर पुरोहित पद पर प्रतिष्ठित किया। कुछ समय पश्चात् राजा युद्ध के निमित्त गया। मरुभूति को भी उसके साथ जाना पड़ा। कमठ ने इसी अवधि में मरुभूति की पत्नी वसुन्धरी को देखा। देखते ही वह उसके ऊपर आसक्त हो गया। यही स्थिति वसुन्धरी की हुई और दोनों में प्रेम हो गया। वे विषयलम्पटी काम-सेवन करने लगे। कुछ समय पश्चात् राजा सेना सहित वापिस लौट आया, मरुभूति भी लौट आया। वह आकर कमठ से प्रेमपूर्वक मिला और अपनी स्त्री के पास आकर विदेश से लाया हुआ धन उसे प्रेम से सौंप दिया।

एक दिन मरुभूति को उसकी भावज वरुणा ने अपने पति कमठ और अपनी देवरानी वसुन्धरी की प्रणयलीला की बात बताई। पहले तो

मरुभूति को विश्वास नहीं हुआ, किन्तु जब रात्रि में उसने स्वयं अपनी आँखों से दोनों को क्रीड़ारत देख लिया तो वह क्रोध से जलने लगा। उसने तत्काल राजभवन में जाकर राजा से न्याय की याचना की। राजा ने अभियोग सुनकर सैनिकों को कमठ को गिरफ्तार करने की आज्ञा दी। जब कमठ बन्दी बनाकर वहाँ लाया गया तो उसका मुख काला करके और गधे पर बैठाकर नगर से निर्वासित कर दिया।

कुछ समय पश्चात् मरुभूति अपने भाई कमठ को याद में बेचैन हो गया। उसने राजा से प्रार्थना की—'देव ! मैंने क्रोधवश उस समय अपने भाई को घर से निकाल दिया था, किन्तु मैं अब उसे घर वापिस लाने की आपसे अनुमति चाहता हूं। राजा ने उसे बहुत समझाया किन्तु वह माना नहीं, अपने भाई को ढूढने चल दिया। वह नगरों, वनों और पर्वतों में भाई की तलाश में भटकता फिरा। इस तरह घूमते हुए उसे सिन्धुतट पर पचाग्नि तप से कृशकाय कमठ दिखाई पड़ा। वह दौड़ कर रोते हुए उसके चरणों में गिर पड़ा और क्षमा-याचना करता हुआ घर वापिस चलने की प्रार्थना करने लगा। किन्तु दुष्ट कमठ उसे देखते ही क्रुद्ध हो गया और उसने एक भारी पत्थर उठाकर मरुभूति के सिर पर दे मारा। इस प्रकार उसने कई बार पत्थर उठा-उठाकर मारा। थोड़ी देर में मरुभूति का प्राणान्त हो गया।

द्वितीय भव—

मरुभूति मर कर मलय देश के कुब्जक नामक सल्लकी के बड़े भारी वन में वज्रघोष (अशनिघोष) नामक हाथी हुआ। वरुणा मरकर उसकी हथिनी हुई। कमठ मरकर उसी वन में कुक्कुट नामक सर्प हुआ।

राजा अरविन्द एक दिन शरद काल की शोभा देख रहे थे। आकाश में उस समय मेघ छाये हुए थे। कुछ समय पश्चात् मेघ लुप्त हो गया। इससे राजा के मन में प्रेरणा जगी—जैसे आकाश में मेघ दिखाई दिया और अल्पकाल में ही नष्ट हो गया; इसी प्रकार देखते-देखते हमारा भी नाश हो जायगा। अतः जब तक इस शरीर का नाश नहीं होता, तब तक मैं वह तप करूंगा, जिससे शाश्वत सुख की प्राप्ति हो।

इस प्रकार विचारकर अपने पुत्र का राज्याभिषेक कर और परिजनों-पुरजनों को क्षमा कराकर राजा ने पिहितास्रव नामक मुनि से मुनि-दीक्षा लेली। तप करते हुए मुनिराज अरविन्द को अवधि ज्ञान की

प्राप्ति हो गई। एक बार मुनि अरविन्द संघ के साथ सम्मेद शिखर की यात्रा के लिये निकले। वे उसी वन में पहुंचे जहाँ वज्रघोष हाथी निवास करता था। सामायिक का समय होने पर वे प्रतिमायोग धारण कर विराजमान हो गये। इतने में वह मदोन्मत्त गजराज झूमता हुआ उधर ही आ निकला। उसके दोनों कपोलों से मद झर रहा था। मुनिराज को देखते ही वह चिघाड़ता हुआ उनकी ओर मारने दौड़ा। किन्तु उनके निकट आते ही इनके वक्ष पर श्रीवत्स चिन्ह देखकर उसे विचार आया—इनको मैंने कहीं देखा है। जब गजेन्द्र मन में इस प्रकार विचार कर रहा था, तभी मुनिराज की सामायिक समाप्त हुई। उन्होंने गजराज के मन की बात जानली। वे बोले—हे गजवर ! मैं राजा अरविन्द हूं, पोदनपुर का स्वामी हूं। मुनि बनकर यहाँ आया हूँ। तू मरुभूति है जो हाथी के रूप में उत्पन्न हुआ है। तू सम्यक्त्व और अणुव्रतों को ग्रहण कर। इसी से तेरा कल्याण होगा।

मुनिराज का उपदेश सुनकर गजराज ने सम्यक्त्व सहित अणुव्रतों को धारण किया। उस समय से वह हाथी पाप के डर से दूसरे हाथियों द्वारा तोड़ी हुई वृक्ष की शाखाओं और सूखे पत्तों को खाने लगा। पत्थरों पर गिरने से अथवा हाथियों के संघटन से जो जल प्रासुक हो जाता था, उसे ही वह पीता था। तथा प्रोषधोपवास के बाद पारणा करता था। इस प्रकार कुछ ही दिनों में वह महा बलवान हाथी अत्यन्त दुर्बल हो गया। एक दिन वह नदी में पानी पीने गया था कि वहाँ कीचड़ में गिर गया। उसने उठने का कई बार प्रयत्न किया, किन्तु उठ नहीं सका। तभी (कमठ का जीव) उस कुक्कुट सर्प ने पूर्व जन्म के वैर के कारण उसे काट लिया।

तीसरा भव—

वह गजराज मरकर सहस्रार[1] स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ। उसकी आयु सोलह सागर की थी। वरुणा भी संयम को धारण कर उसी स्वर्ग में देवी बनी। कुक्कुट सर्प मरकर पांचवें नरक में गया। मुनिराज अरविन्द सम्मेद शिखर पर तप करते हुए कर्मों का नाश करके मुक्त हो गये।

चौथा भव—

स्वर्ग में आयु पूर्ण होने पर वहाँ से च्युत हुआ और जम्बूद्वीप के पूर्व

१. वादिराज सूरिकृत 'सिरि पासनाह चरिउ' में महाशुक्र स्वर्ग लिखा है।

विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश है। उसके विजयार्ध पर्वत पर विद्यमान त्रिलोकोत्तम नामक नगर में वहाँ के राजा विद्युद्गति[2] और रानी विद्युन्माला[3] के रश्मिवेग[4] नामक पुत्र हुआ। जब रश्मिवेग राज्यासीन हुआ तो उसने अपने तमाम शत्रुओं को वश में करके खूब राज्य-विस्तार किया। वह प्रजा का वल्लभ था। उसने यौवनावस्था में ही समाधिगुप्त मुनिराज के पास मुनि-दीक्षा लेली। वे घोर तप में लीन हो गये। एक दिन मुनिराज हिमगिरि पर्वत की गुफा में योग धारण करके विराजमान थे। कमठ का जीव पांचवें नरक की आयु पूर्ण करके इसी गुफा में अजगर[5] हुआ। मुनिराज को देखते ही उसे भयंकर क्रोध आया और वह उन्हें निगल गया। अजगर दावानल में जलकर मर गया और छटवें नरक में उत्पन्न हुआ।

पांचवां भव—

रश्मिवेग मरकर अच्युत स्वर्ग के पुष्कर विमान में देव हुआ। बाईस सागर की उसकी आयु थी।

छटवां भव—

जम्बूद्वीप के पश्चिमी विदेह क्षेत्र में पद्म नामक देश था। वहाँ अश्वपुर नगर था। वहाँ के राजा वज्रवीर्य और रानी विजया[6] के वज्रनाभि नामक पुत्र हुआ। वह चक्रवर्ती था। षट्खण्ड पृथ्वी का वह अधिपति था। चौदह रत्न और नवनिधि का स्वामी था। उसने राज्य लक्ष्मी का खूब भोग किया। किन्तु एक दिन उसने राज्य लक्ष्मी के स्थान पर मोक्ष लक्ष्मी का उपभोग करने का निश्चय किया और क्षेमंकर मुनिराज के

---

२. पुष्पदन्त कृत 'महापुराण' के अनुसार विद्युद्वेग, कविवर रइधू कृत 'पासचरिय के अनुसार अशनिगति।

३. महापुराण के अनुसार तडिन्माला, देवभद्र सूरिकृत 'सिरि पासनाह चरिउ' के अनुसार 'तिलकावती, हेमचन्द्र कृत' 'त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित' के अनुसार कनकतिलका, पद्मकीर्ति कृत 'पासणाह चरिउ' के अनुसार 'मदनावली हेमविजयगणि' कृत 'पार्श्व चरितम्' के अनुसार कनकतिलका, रइधूकृत 'पास चरिय' के अनुसार तड़ितवेगा।

४. देवभद्र सूरि, हेमचन्द्र, पद्मकीर्ति और हेमविजय गणि के अनुसार किरणवेग तथा रइधू के अनुसार अशनिवेग।

५. किसी ग्रन्थ में भुजंग, सर्प महोरग।

६. श्वेताम्बर लेखकों के अनुसार लक्ष्मीमती।

समीप संयम धारण कर लिया।

सातवां भव—

कमठ का जीव छटवें नरक की आयु पूर्ण करके कुरंग नामक भील हुआ। वह बड़ा क्रूर प्रकृति का था। एक दिन मुनिराज वज्रनाभि[1] उसी वन में ध्यान लगाये हुए बैठे थे। घूमता फिरता वह भील उधर ही आ निकला। मुनिराज को देखते ही उसके मन में क्रूरता उत्पन्न हो गई और वह मुनिराज के ऊपर घोर उपसर्ग करने लगा। भयंकर उपसर्ग होने पर मुनिराज आराधनाओं का आराधना कर सुभद्र नामक मध्यम ग्रैवेयक में सम्यग्दर्शन के धारक अहमिन्द्र हुए। उनकी आयु सत्ताईस सागर की थी। कमठ का जीव कुरंग भील मरकर अपने क्रूर परिणामों के कारण सप्तम नरक में नारकी हुआ।

आठवां भव—

आयु के अन्त में वहां से च्युत होकर जम्बूद्वीप के कोशल देश में अयोध्या नगर में काश्यपगोत्री इक्ष्वाकुवंशी राजा वज्रबाहु[2] और रानी प्रभंकरी[3] के आनन्द[4] नामक पुत्र हुआ। यौवन आने पर पिता ने उसका राज्याभिषेक कर दिया। वह अतिशय विभूति सम्पन्न मण्डलेश्वर राजा था। एक बार फाल्गुनी अष्टान्हिका में सिद्धचक्र विधान कराया। उसी समय विपुलमति नामक मुनिराज पधारे। आनन्द ने मुनिराज की वन्दना करके उनसे धर्मोपदेश सुना। मुनिराज ने जिनेन्द्र प्रतिमा और जिन-मन्दिर के महात्म्य का वर्णन करते हुए उन्हें पुण्य-बन्ध का समर्थ साधन बताया तथा इसी सन्दर्भ में उन्होंने सूर्य-मन्दिर में स्थित जिन-मन्दिर की विभूति का वर्णन किया। आनन्द उससे इतना प्रभावित हुआ कि वह दोनों समय सूर्य-विमान में स्थित जिन-प्रतिमाओं की स्तुति करने लगा। उसने कला-

---

१. पुष्पदन्त कृत महापुराण के अनुसार वज्रबाहु। वादिराज के अनुसार चक्रनाथ और पद्मकीर्ति के अनुसार चक्रायुध।
२. श्वेताम्बर लेखकों ने कुलिशबाहु नाम दिया है जो समानार्थक है।
३. हेमचन्द्र ने सुदंसणा और हेमविजय गणि ने सदंसणा दिया है।
४. देवभद्रसूरि आनन्द के स्थान पर कनकबाहु, हेमचन्द्र और हेमविजय गणि सुवर्णबाहु, पद्मकीर्ति कनकप्रभ नाम का प्रयोग करते हैं और उसे चक्रवर्ती मानते हैं। कविवर रइधू ने नाम तो आनन्द ही दिया है किन्तु उसे चक्रवर्ती माना है।

कारों द्वारा श्रद्धावश मणि और स्वर्ण खचित सूर्य-विमान बनवाया और उसके भीतर अत्यन्त कान्तिमान जिन-मन्दिर बनवाया। राजा को सूर्य की पूजा करते देखकर प्रजाजन भक्तिपूर्वक सूर्यमण्डल की स्तुति करने लगे। भारतवर्ष में सूर्योपासना तभी से प्रचलित हो गई।

एक दिन राजा आनन्द ने दर्पण में मुख देखते हुऐ सिर में एक सफेद बाल देखा। यौवन की क्षणभगुरता देखकर उसे संसार, शरीर और भोगों के प्रति निर्वेद हो गया। उसने अपने पुत्र को राज्य देकर समुद्र गुप्त नामक मुनिराज के पास मुनिदीक्षा लेली। उन्होने चारों आराधनाओं की आराधना कर परम विशुद्धि प्राप्त की और ग्यारह अंगों का अध्ययन करके सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन किया, जिससे उन्हें पुण्य रूप तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो गया। वे नाना प्रकार के तप करते हुए अन्त में प्रायोपगमन सन्यास लेकर क्षीरवन में प्रतिमायोग से विराजमान हुए। कमठ का जीव नरक की घोर यातनायें सहन करता हुआ मरकर उसी वन में सिंह बना। सिंह ने मुनिराज को देखते ही भयंकर गर्जना की और एक ही प्रहार में उन्हें प्राणरहित कर दिया।

नौवां भव—

आनन्द मुनि सिंह के उपसर्ग को शान्तिपूर्वक सहन कर सन्यास मरण द्वारा अच्युत[1] स्वर्ग के प्राणत विमान में इन्द्र बने। वहाँ पर उसकी बीस सागर की आयु थी। कमठ का जीव सिंह पर्याय समाप्त करके रौद्र परिणामों के कारण नरक[2] में गया।

गर्भकल्याणक—

इस भरत क्षेत्र में काशी नामक देश में वाराणसी नामक नगर था। उसमें काश्यप गोत्री राजा विश्वसेन राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम ब्राह्मी था। जब उस अच्युतेन्द्र की आयु के अन्तिम छह माह शेष रहग ये तो देवों ने महाराज अश्वसेन के महलों में रत्न वर्षा की। वैशाख कृष्ण द्वितीया

१. कई जैनाचार्यों ने आनत के स्थान पर प्राणत, वैजयत, दशम कल्प या चौदहवां कल्प लिखा है।

२. आचार्यों ने नरक के नाम केसम्बन्ध में साधारण सा मतभेद है। विभिन्न आचार्यों ने पृथक्-पृथक् नाम दिये हैं; जैसे तमप्रभ, पंकप्रभा, धूमप्रभा। कुछ ने नरक का नाम न देकर केवल नरक या रौद्र नरक लिख दिया है।

को प्रातः काल के समय विशाखा नक्षत्र में रानी ब्राह्मी ने सोलह शुभ स्वप्न देखे। उसके बाद अपने मुख में प्रवेश करता हुआ हाथी देखा। प्रातः काल के मंगल वाद्यों के कारण महारानी की नींद खुल गई। उन्होंने मंगल अभिषेक किया और वस्त्राभूषण पहनकर वे अपने पति के पास पहुंची। पति ने उनकी अभ्यर्थना की और उन्हें अपने वाम पार्श्व में स्थान दिया। महारानी ने रात्रि में देखे हुए स्वप्न बताकर उनका फल पूछा। महाराज ने अवधिज्ञान द्वारा जानकर कहा—'देवि ! पुण्योदय से तुम्हारे गर्भ में त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर आज अवतरित हुए हैं।' पति से स्वप्नों का फल सुनकर महारानी का रोम रोम हर्ष से भर गया। महारानी के गर्भ में अच्युतेन्द्र आयु पूर्ण होने पर अवतरित हुआ। उसी समय समस्त इन्द्रों और देवों ने गर्भकल्याणक का उत्सव मनाया। देवों ने गर्भ के नौ मास तक अर्थात् गर्भ में आने के छह माह पूर्व से भगवान के जन्म पर्यन्त—पन्द्रह माह तक माता-पिता के प्रासाद में रत्न-वर्षा करके भगवान के प्रति अपनी भक्ति की अभिव्यक्ति की।

पार्श्वनाथ के माता, पिता, वंश और जन्म-तिथि—

पार्श्वनाथ के माता-पिता के नामों के सम्बन्ध में जैनग्रन्थों में एक-रूपता नहीं मिलती। उत्तरपुराण में माता-पिता का नाम ब्राह्मी और विश्व-सेन दिये गये हैं। पुष्पदन्त ने उत्तरपुराण का ही अनुकरण किया है किन्तु वादिराज ने माता का नाम ब्रह्मदत्ता बताया है। पद्मकीर्ति और रइधू ने पिता का नाम अश्वसेन के स्थान पर हयसेन दिया है। अश्व और हय समानार्थक हैं, सभवतः इसलिये यह नाम विपर्यय किया गया है। तिलोय पण्णत्ती में माता का नाम वर्मिला तथा पद्मचरित में वर्मादेवी दिया गया है। समवायाङ्ग और आवश्यक नियुक्ति में पिता का नाम आससेण और माता का नाम वामा मिलता है। अनेकश्वेताम्बर आचार्यों ने इन्ही का अनुकरण किया है।

पार्श्वनाथ के वंश के सम्बन्ध में तिलोयपण्णत्ती में हमें जो सूचना प्राप्त होती है, उसके अनुसार वे उग्रवंश के थे। उत्तरपुराणकार उन्हें काश्यप गोत्री बताते हैं। आवश्यक नियुक्ति में भी उन्हें काश्यप गोत्र का बताया है। पुष्पदन्त पार्श्व को उग्रबंशी बताते हैं। देवभद्रसूरि, हेमचन्द्र तथा कई श्वेताम्बर आचार्यों ने उन्हें इक्ष्वाकु कुलोत्पन्न माना है। किन्तु समवायाङ्ग, कल्पसूत्र, वादिराज और पद्मकीर्ति ने उनके वंश का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया।

यदि गहराई से विचार किया जाय तो कोई मतभेद प्रतीत नहीं

होता। जैन शास्त्रों के अनुसार भगवान ऋषभदेव ने जिन चार वंशों की स्थापना की थी, उनमें एक उग्रवंश भी था। काशी के महाराज अकंपन को यह वंश दिया गया था। मूलत: तो एक इक्ष्वाकुवंश ही था। ऋषभदेव स्वयं इक्ष्वाकुवंश के थे। लगता है, ये चारों वंश इक्ष्वाकुवंश के ही भेद थे। अत: उग्रवंश भी इक्ष्वाकुवंश का ही भेद था।

बृहदारण्यक उपनिषद् में गार्गी और याज्ञवल्क्य का एक संवाद मिलता है। उसमें गार्गी ने काशी और विदेहवासी को उग्रपुत्र कहा है—'काश्यो वा वैदेहो वा उग्रपुत्र:।' इसमें काशी के निवासी को उग्रपुत्र बताया है। उग्रपुत्र का अर्थ संभवत: उग्रवंशी होगा। इसी प्रकार बौद्धजातकों में ब्रह्मदत्त के सिवाय वाराणसी के छह राजा और बतलाये हैं—उग्गसेन, धनजय, महासीलव, सयम, विस्ससेन और उदयभद्दा इनमें दो नाम उल्लेखनीय हैं—उग्गसेन और विस्ससेन। संभवत: उग्गसेन (उग्रसेन) से उग्रवंश की स्थापना हुई। उसी वंश में विस्ससेन (विश्वसेन) उत्पन्न हुए। विष्णुपुराण और वायुपुराण में ब्रह्मदत्त के उत्तराधिकारियों में योगसेन, विश्वकसेन और झल्लार के नाम दिये गये हैं। पुराणों के विश्वसेन, बौद्ध-जातकों के विस्ससेन और उत्तर पुराण के विश्वसेन एक ही थे, ऐसा प्रतीत होता है। यदि यह सत्य है तो उत्तर पुराण में पार्श्वनाथ के पिता का नाम विश्वसेन और उन्हें उग्रवश का बताया है, वह वास्तविकता के अधिक निकट है।

पार्श्वनाथ की जन्म नगरी वाराणसी के सम्बन्ध में सभी जैन ग्रन्थ-कार एकमत है। किन्तु उनकी जन्मतिथि के सम्बन्ध में साधारण सा मतभेद है। तिलोयपण्णत्ती में उनकी जन्म-तिथि पौष कृष्णा एकादशी बताई है, किन्तु कल्पसूत्र में पौष कृष्णा दशमी बताई है। दिगम्बर ग्रन्थ-कारों ने तिलोयपण्णत्ती का अनुकरण किया है और श्वेताम्बर ग्रन्थकारों ने कल्पसूत्र का। किन्तु दोनों ही परम्परायें उनके जन्म-नक्षत्र विशाखा के बारे में एकमत हैं।

भगवान का जन्म कल्याणक—

नौ माह पूर्ण होने पर पौष कृष्णा एकादशी के दिन अनिल योग में महारानी ब्राह्मी ने पुत्र प्रसव किया। पुत्र असाधारण था और तीनों लोकों का स्वामी था। उस पुत्र के पुण्य प्रताप से इन्द्रों के आसन कम्पायमान होने लगे। उन्होंने अवधिज्ञान से तीर्थंकर भगवान के जन्म का समाचार जान लिया। तब इन्द्रों और देवों ने आकर सुमेरु पर्वत पर उस अतिशय

पुण्य के अधिकारी बालक को लेजाकर उसका महाभिषेक किया। इन्द्र ने बालक का नाम पार्श्वनाथ रक्खा। दिगम्बर परम्परा में तीर्थंकरों का नामकरण इन्द्र ने किया है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में 'पार्श्व' यह नाम इन्द्र ने न रखकर माता-पिता ने रक्खा, यह माना जाता है। आवश्यक निर्युक्ति १०६ आदि श्वेताम्बर ग्रंथों में यह नाम घटनामूलक बताया जाता है। घटना इस प्रकार है कि जब पार्श्वनाथ गर्भ में थे, तब वामादेवी ने पार्श्व (बगल) में एक काला सर्प देखा, अतः बालक का नाम पार्श्व रक्खा गया।

पार्श्वनाथ का जन्म नेमिनाथ के बाद ८३७५० वर्ष व्यतीत हो जाने पर हुआ था। उनकी आयु सौ वर्ष की थी। उनके शरीर का वर्ण धान के छोटे पौधे के समान हरे रंग का था। उनका शरीर नौ हाथ ऊंचा था। वे उग्रवंश में उत्पन्न हुये थे।

पार्श्वनाथ और महीपाल तपस्वी—

पार्श्वनाथ द्वितीया के चन्द्रमा के समान बढ़ते हुए जब सोलह वर्ष के हुए तब वे अपनी सेना के साथ वन बिहार के लिये नगर के बाहर गये। वन में उन्होंने देखा कि एक वृद्ध तपस्वी पंचाग्नि तप कर रहा है। यह तपस्वी महीपाल नगर का राजा महीपाल था जो पत्नी-वियोग के कारण साधु बन गया था। स्मरण रहे, यह कमठ का ही जीव था और भव-भ्रमण करता हुआ महीपाल राजा हुआ था और अब घर द्वार छोड़कर तपस्वी बन गया था। पार्श्वनाथ जन्ममात अवधिज्ञानी थी। वे उस तपस्वी के पास ही जाकर खड़े हो गये, उन्होंने तपस्वी को नमस्कार करना भी उचित नहीं समझा। यह बात तपस्वी को अत्यन्त अभद्र लगी। वह सोचने लगा—मैं तपोवृद्ध हूँ, वयोवृद्ध हूं, इसका नाना हूं किन्तु इस अहंकारी कुमार ने मुझे नमस्कार तक नहीं किया' यह सोचकर वह बहुत क्रुद्ध हुआ और बुझती हुई आग में लकड़ी डालने को लकड़ी काटने के लिये कुल्हाड़ी उठाई। तभी अवधिज्ञानी कुमार पार्श्वनाथ ने यह कहते हुए उसे रोका कि इस लड़की को मत काटो, इसमें सर्प हैं।' किन्तु वह साधु नहीं माना और लकड़ी काट डाली। लकड़ी के साथ उसके भीतर रहने वाले सर्प-सर्पिणी के दो टुकड़े हो गये। पार्श्वकुमार यह देखकर बोले—तुझे अपने इस कुतप का बड़ा अहंकार है किन्तु तू नहीं जानता कि इस कुतप से लोक और परलोक में कितना दुःख होता है। मैं तेरी अवज्ञा या अनादर नहीं कर रहा, किन्तु स्नेह के कारण समझा रहा हूं कि अज्ञान तप दुःख का कारण है।' यह कह कर मरते हुए सर्प-सर्पिणी के पास बैठकर पार्श्वकुमार

ने अत्यन्त करुणार्द्र होकर उन्हें णमोकार मंत्र सुनाया और उन्हें उपदेश दिया, जिससे वे दोनों अत्यन्त शान्ति और समतापूर्वक पीड़ा को सहते हुए प्राण त्याग कर महान् वैभव के धारी नागकुमार जाति के देवों के इन्द्र-इन्द्राणी धरणेन्द्र और पद्मावती हुए। उधर तपस्वी महीपाल अपने तिरस्कार से क्षुब्ध होकर अत्यन्त क्रोध करता हुआ मरा और सम्वर नामक ज्योतिष्क देव हुआ।

पार्श्वकुमार का विवाह ?—

भगवान पार्श्वनाथ का विवाह हुआ या नहीं; इस सम्बन्ध में दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में मतभेद है। दिगम्बर परम्परा के सभी आचार्य इस विषय में एकमत हैं और उनकी मान्यता है कि पार्श्वनाथ का विवाह नहीं हुआ और वे कुमार अवस्था में ही प्रव्रजित हुए। श्वेताम्बर परम्परा में इस विषय में दो मत हैं। इन दो मतों के आधार पर श्वेताम्बर आचार्य दो वर्ग में विभाजित हो गये हैं। एक वर्ग, जो प्राचीन परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है, उसका मत है कि पार्श्वनाथ अविवाहित रहे और कुमार वय में प्रव्रजित हुए। दूसरे वर्ग का मत इसके विरुद्ध है और पार्श्वनाथ को विवाहित स्वीकार करता है।

यहाँ दोनो परम्पराओं की मान्यताओं का उल्लेख करना अत्यन्त रुचिकर होगा।

दिगम्बर परम्परा—

आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ती में बताया है कि—

णेमीमल्ली वीरो कुमारकालम्मि वासुपुज्जो य।
पासो वि य गहिदतवा सेसजिणा रज्जचरमम्मि ॥ ४।६७० ।

अर्थात् भगवान नेमिनाथ, मल्लिनाथ, महावीर, वासुपूज्य और पार्श्वनाथ इन पांच तीर्थंकरों ने कुमारकाल में और शेष तीर्थंकरों ने राज्य के अन्त में तप को ग्रहण किया।

यतिवृषभ की इस परम्परा में पद्मचरित, उत्तरपुराण, महापुराण, सिरिपासनाह चरिउ और पासचरिय जैसे सभी दिगम्बराम्नाय के शास्त्र सम्मिलित हैं। सभी ने पार्श्वनाथ को कुमार प्रव्रजित स्वीकार किया है।

इस परम्परा के पद्मकीर्ति ने पासनाहचरिउ में पार्श्वनाथ के विवाह का प्रसंग तो उठाया है, किन्तु विवाह हुआ नहीं। पद्मकीर्ति ने यवनराज के साथ पार्श्वनाथ के युद्ध का वर्णन किया है। कुशस्थल का राजा रविकीर्ति या भानुकीर्ति था जो पार्श्वनाथ का मामा था। जब उसके पिता शक्रवर्मा रविकीर्ति के ऊपर राज्य-भार सौंपकर जिन-दीक्षा लेकर चले गये तो राज्य को निर्बल जानकर यवनराज ने एक दूत भेजकर रविकीर्ति से कहलाया कि तुम अपनी कन्या प्रभावती का विवाह मेरे साथ कर दो और मेरी आधीनता स्वीकार करो, अन्यथा तुम्हें अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा। रविकीर्ति ने सहायता के लिये वाराणसी नरेश हयसेन के पास अपना दूत भेजा। पिता की आज्ञा लेकर पार्श्वकुमार सेना सहित कुशस्थल पहुंचे। वहाँ यवनराज के साथ उनका भयानक युद्ध हुआ। इसमें पार्श्वनाथ की विजय हुई। पश्चात् रविकीर्ति ने अपनी कन्या प्रभावती का विवाह पार्श्वकुमार के साथ कर देने का विचार किया। पार्श्वकुमार ने भी अपनी स्वीकृति देदी। किन्तु तभी वे वन में आश्रम के तापसों को देखने गये। वहाँ कमठ तापस ने मना करने पर भी लकड़ी काटी। उसमें सर्प-सर्पिणी की मृत्यु हो गई। इसे देखकर पार्श्वकुमार को वैराग्य हो गया और उन्होंने दीक्षा लेली।

पद्मकीर्ति ने संभवतः यह प्रसंग विमलसूरि के पउमचरिउ से उधार लिया है। पउमचरिउ में जनक की राजधानी यवनराज द्वारा घिर जाने पर जनक ने दशरथ को सहायता के लिये संदेश भेजा। दशरथ ने राम को युद्ध के लिए भेजा। राम ने जाकर यवनों से युद्ध किया और उसमें विजय प्राप्त की। जनक ने राम के साथ अपनी पुत्री सीता का विवाह कर दिया। संभवतः इसी प्रसंग से प्रेरणा प्राप्त करके पदमकीर्ति ने रविकीर्ति और पार्श्वकुमार की घटना का उद्घाटन किया और प्रभावती के विवाह का प्रसंग निरूपित किया।

इस घटना का उल्लेख देवभद्रसूरि ने भी किया है। देवभद्रसूरि और पद्मकीर्ति के विवरण में अन्तर भी है और वह अन्तर यह है कि देवभद्रसूरि के अनुसार कुशस्थल के राजा का नाम प्रसेनजित है, जबकि पद्मकीर्ति के अनुसार कुशस्थल के राजा का नाम रविकीर्ति है। देवभद्रसूरि ने पार्श्व को युद्ध से बचा लिया और पार्श्व और प्रभावती का विवाह करा दिया। पश्चाद्वर्ती श्वेताम्बर लेखकों ने देवभद्रसूरि का ही अनुकरण किया है। किन्तु पद्मकीर्ति के अतिरिक्त अन्य किसी दिगम्बर आचार्य ने न तो इस

घटना का उल्लेख ही किया है और न पार्श्वनाथ के विवाह का समर्थन ही किया है।

श्वेताम्बर परम्परा—

श्वेताम्बर सम्मत 'समवायांग सूत्र' नं० १६ में आगारवास का उल्लेख करते हुए १६ तीर्थंकरों का घर में रहकर और भोग भोगकर दीक्षित होना बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि शेष पांच तीर्थंकर कुमार अवस्था में ही दीक्षित हुए थे। इसी आशय का समर्थन इस सूत्र के टीकाकार अभयदेव सूरि ने अपनी वृत्ति में किया है। उन्होंने लिखा है—शेषास्तु पच कुमार भाव एवेत्याह' यह लिखकर 'वीरं अरिट्ठणेमी' नामक गाथा उद्धृत की है।

'स्थानांक सूत्र' के ४७६ वें सूत्र में पांच तीर्थंकरों को कुमार प्रव्रजित लिखा है।

'आवश्यक निर्युक्ति' गाथा नं० २४३-२४४ में पांच तीर्थंकरों को कुमार प्रव्रजित लिखा है। वे गाथायें इस प्रकार हैं—

'वीरं अरिट्ठनेमि पासं मल्लिं च वासुपुज्ज च।
एए मुत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो ॥२४३॥
रायकुलेसु वि जाया विसुद्धवंसेसु खत्तिअकुलेसु।
न य इत्थिआभिसेआ कुमारवासंमि पव्वइया ॥२४४॥

इन गाथाओं में बतलाया गया है कि महावीर, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ, मल्लिनाथ और वासुपूज्य ये पांच तीर्थंकर राजवंशों, विशुद्धवंशों और क्षत्रियकुलों में उत्पन्न हुए थे। वे न विवाहित हुए, न उनका राज्याभिषेक हुआ बल्कि वे कुमार अवस्था प्रव्रजित हुए।

इसी प्रकार गाथा नं० २४८ में भी इसी आशय की पुष्टि की है। वह इस प्रकार है—

'वीरो अरिट्ठणेमी पासो मल्लीवासुपुज्जो य।
पढमवए पव्वइया सेसा पुण पच्छिम वयंसि ॥२४८॥

इसमें बताया है कि ये पांच तीर्थंकर प्रथम वय में प्रव्रजित हुए और शेष पश्चिम वय में।

इसके टीकाकार मलयगिरि ने इसकी टीका करते हुए बताया है कि—'**प्रथमवयसि कुमारत्वलक्षणे प्रव्रजिताः शेषाः पुनः ऋषभस्वामि प्रभृतयो 'मध्यमें वयसि' यौवनत्वलक्षणे वर्तमानाः प्रव्रजिताः।**'

पश्चात्कालीन टीकाकारो ने 'कुमार प्रव्रजित' का अर्थ 'जिन्होंने राजपद प्राप्त नही किया' यह किया है। समवायांग सूत्र में कुमार शब्द का अर्थ अविवाहित ब्रह्मचारी किया है। आवश्यक निर्युक्तिकार को भी कुमार शब्द का यही अर्थ अभिप्रेत था, जिसे उन्होंने 'गामायारा विसया निसेविता जे कुमार वज्जेहिं' इस गाथा द्वारा पुष्ट किया है। इसमें बताया है—कुमार प्रव्रजितो को छोड़कर अन्य तीर्थकरों ने भोग-भोगे।

श्वेताम्बर मुनि कल्याण विजय जी ने श्रमण भगवान महावीर' नामक पुस्तक के पृष्ठ १२ पर इस सम्बन्ध में नियुक्तिकार के आशय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'

'यद्यपि पिछले टीकाकार 'कुमार प्रव्रजित' का अर्थ 'राजपद नही पाए हुए' ऐसा करते है। परन्तु आवश्यक निर्युक्त का भाव ऐसा नही मालुम होता। निर्युक्तकार 'ग्रामाचार' शब्द की व्याख्या में स्पष्ट लिखते है कि 'कुमार प्रव्रजितो को छोड अन्य तीर्थकरो ने भोग भोगे।' (गामायारा विसया ते भुत्ता कुमाररहिएहिं) इस व्याख्या से यह ध्वनित होता है कि आवश्यक निर्युक्तिकार को 'कुमार प्रव्रजित' का अर्थ 'कुमारावस्था में दीक्षा लेने वाला ऐसा अभिप्रेत है।'

इसी प्रकार प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् डॉ॰ दलसुख मालवणिया 'स्थानांग—समवायाग' (पृ॰ ३८) पर विचार करते हुए कुमार शब्द का अर्थ बाल ब्रह्मचारी करते हैं और दिगम्बरो की अविवाहित मान्यता को साधार मानते हैं। वे लिखते है—

'समवायांग मा ओगणीसनो आगारवास (नहि के नृपतित्व) कहेनार सूत्र मूकीओ, तो प्रेम ज कहेयुं पड़े छे के त्यां कुमारनो अर्थ बाल ब्रह्मचारीज लेवो जोईए, अने वाकीनानो विवाहित, आ प्रमाणे दिगम्बरोनी मान्यताने पण आगमिक आधार छे जो एम मानवुं पड़े छे।'

इन सब प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राचीन श्वेताम्बर साहित्य में पांच तीर्थंकरों को अविवाहित ही स्वीकार किया गया है।

श्वे॰ आगमसाहित्य में सर्वप्रथम 'कल्पसूत्र' में इन तीर्थंकरों के

विवाह की कल्पना की गई है और उसी का अनुसरण देवभद्र सूरि, हेमचन्द्र आदि पश्चात्कालीन श्वेताम्बर आचार्यों ने किया और कई टीकाकारों ने समवायांग, स्थानांग और आवश्यक निर्युक्ति की मूल भावना के विरुद्ध शब्दों को तोड़कर अपनी निजी मान्यतापरक अर्थ किया। उदाहरण के तौर पर आवश्यक निर्युक्ति की गाथा २४४ के 'ण इत्थियाभिसेया' पद का अर्थ 'अभिषेक की इच्छा नहीं की' किया है। कुछ तो इससे भी दो कदम आगे बढ़ गये और उन्होने 'इत्थियाभिसेया' के स्थान पर 'इच्छियाभिसेया' यह संशोधित पद लिखकर अपनी मान्यता की पुष्टि की।

पार्श्वनाथ का वैराग्य और दीक्षा—

पार्श्वनाथ जब तीस वर्ष के हुए, तब एक दिन अयोध्या के राजा जयसेन ने भगली देश में उत्पन्न हुए घोड़े आदि की भेंट के साथ अपना दूत पार्श्वनाथ के पास भेजा। पार्श्वनाथ ने भेंट स्वीकार करके राजदूत का यथोचित सम्मान किया और उससे अयोध्या की विभूति के बारे में पूछा। राजदूत ने भगवान ऋषभदेव और उनकी अयोध्या के वैभव का वर्णन करते हुए वर्तमान अयोध्या की श्रीसमृद्धि का वर्णन किया। भगवान ऋषभदेव की चर्चा सुनकर पार्श्वनाथ गहरे चिन्तन में डूब गये—मुझे तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध तो अवश्य हुआ, किन्तु उससे क्या लाभ हुआ। मैंने अब तक आत्मकल्याण नहीं किया। धन्य है भगवान ऋषभदेव, जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया। मैंने अब तक जीवन व्यर्थ खोया, किन्तु अब मुझे जीवन के एक-एक क्षण को आत्म कल्याण के लिये समर्पित करना है।

यह विचार आते ही उनके मन में देह और भोगों के प्रति निर्वेद उत्पन्न हो गया। उन्होंने घरबार छोड़कर संयम धारण करने का निश्चय कर लिया। तभी लौकान्तिक देव आये और उन्होंने प्रभु के विचार की सराहना की और प्रार्थना की—'भगवन्! अब तीर्थ-प्रवर्तन की वेला आ पहुंची है। अज्ञान तप और हिंसा में आस्था रखने वाले मानव को आपके मार्ग-दर्शन की आज आवश्यकता है। प्रभो! सन्तप्त प्राणियों पर दया करें।' इस प्रकार प्रार्थना करके भगवान को नमस्कार किया और वे अपने स्थान को लौट गये।

तभी इन्द्र और देवों ने आकर भगवान का कल्याण अभिषेक किया और भगवान को वस्त्राभरणों से अलंकृत किया। भगवान ने माता-पिता और परिजनों से दीक्षा लेने की अनुमति ली और देव निर्मित विमला

नामक पालकी में विराजमान होकर अश्व वन में पहुंचे। वहाँ तेला का नियम लेकर एक शिलातल पर उत्तराभिमुख होकर पर्यङ्कासन से विराजमान हो गये और 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' कहकर केशलुंचन किया और तीन सौ राजाओं के साथ दीक्षा लेली। उस दिन पौष कृष्णा एकादशी का प्रातः काल का समय था। इन्द्र ने भगवान के पवित्र केशों को रत्न मंजूषा में रक्खा और क्षीरसागर में उनका क्षेपण कर दिया। दीक्षा लेते ही भगवान ने सामायिक चारित्र धारण किया और विशुद्धता के कारण चतुर्थ मनः पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया।

भगवान पारणा के दिन आहार के लिये गुल्मखेट नगर में गये। वहाँ श्याम वर्ण वाले धन्य राजा ने नवधा भक्तिपूर्वक भगवान को पड़गाह कर परमान्न आहार दिया। देवों ने पंचाश्चर्य किये—शीतल सुगन्धित पवन बहने लगी, सुरभित जल की वृष्टि हुई, देव-दुन्दुभि हुई, देवों ने पुष्प-वर्षा की और जय-घोष किया-धन्य यह दान, धन्य यह दाता और धन्य यह सुपात्र। भगवान आहार लेकर बिहार कर गये।

पार्श्वनाथ के वैराग्य का कारण क्या था इस सम्बन्ध में तीन मत मिलते हैं। एक तो उत्तर पुराण का मत जो ऊपर दिया गया है। इस परम्परा में पुष्पदन्त हैं। दूसरा मत है पद्मकीर्ति का, जिन्होंने कमठ तापस के साथ घटित घटना तथा सर्पों की मृत्यु को पार्श्वनाथ के वैराग्य का कारण बताया है। हेमचन्द्र ने इसी परम्परा का अनुकरण किया है। तीसरा मत है वादिराज का जिन्होंने पार्श्वनाथ की स्वाभाविक विरक्त प्रवृत्ति को मुख्य आधार माना है। देवभद्र सूरि, भावदेव सूरि और हेमविजय गणि ने वसन्त ऋतु में उद्यान में नेमिनाथ के भित्तिचित्रों को देखकर पार्श्वनाथ का वैराग्य हुआ माना है। किन्तु उत्तर पुराणकार की मान्यता है कि जब पार्श्वनाथ कमठ तापस से मिले थे, उस समय पार्श्वनाथ की आयु केवल सोलह वर्ष की थी और उन्होंने तीस वर्ष की आयु में दीक्षा ली। ऐसा दशा में कमठ की घटना उनके वैराग्य का कारण नहीं बन सकती थी।

सम्बर द्वारा पार्श्वनाथ के ऊपर घोर उपसर्ग—

भगवान को दीक्षा लिए हुए चार माह व्यतीत हो गये। तब उन्होंने जिस वन में दीक्षा ली थी, उसी वन में जाकर देवदारु वृक्ष के नीचे विराजमान हुए। वे सात दिन का योग लेकर ध्यानमग्न हो गए। तभी सम्बर देव अपने विमान द्वारा आकाशमार्ग से जा रहा था। अकस्मात् उसका

विमान रुक गया। देव ने अपने विभंगावधि ज्ञान से देखा तो उसे अपने पूर्व-भव का वैर स्मरण हो आया। वह क्रोध में फुंकारने लगा। उसने भीषण गर्जन तर्जन करके प्रलयंकर वर्षा करना प्रारम्भ कर दिया। फिर उसने प्रचण्ड गर्जन करता हुआ पवन प्रवाहित किया। पवन इतना प्रबल वेग से बहने लगा, जिसमें वृक्ष, नगर, पर्वत तक उड़ गए। जब इतने पर भी पार्श्वनाथ ध्यान से विचलित नहीं हुए, तब वह अधिक क्रोधित होकर नाना प्रकार के भयंकर शस्त्रास्त्र चलाने लगा। वे शस्त्र तप के प्रभाव से तीर्थंकर के शरीर पर पुष्प बनकर गिरते थे। जब घातक शस्त्र भी निष्फल हो गये, तब सम्बर ने माया से अप्सराओं का समूह उत्पन्न किया। कोई गीत द्वारा रस संचार करने लगी, कोई नृत्य द्वारा वातावरण में मादकता उत्पन्न करने लगी। अन्य अप्सरायें नाना प्रकार के हाव भाव और चेष्टायें करने लगीं। किन्तु आत्म ध्यानी वीतराग पार्श्व जिनेन्द्र अन्तर्विहार में मग्न थे, उन्हें वाह्य का पता ही नहीं था। किन्तु देव भी हार मानने वाला नहीं था। उसने भयानक रौद्रमुखी हिंसक पशुओं द्वारा उपसर्ग किया; कभी भयंकर भूत-प्रेतों की सेना द्वारा उत्पात किया; कभी उसने भीषण उपल वर्षा की। उसने पार्श्वनाथ पर अचिन्त्य, अकल्प्य उपद्रव किये, सारी शक्ति लगादी उन्हें पीड़ा देकर ध्यान से विचलित करने की किन्तु वह धीर वीर महा-योगी अविचल रहा। वह तो वाह्य से एकदम निर्लिप्त, शरीर से निर्मोह होकर आत्म रस में बिहार कर रहा था।

सम्बर के द्वारा किये गये भयानक उपसर्गों को निष्फलता का सजीव चित्रण करते हुए आचार्यप्रवर सिद्धसेन दिवाकर ने 'कल्याण मंदिर' स्तोत्र में लिखा है—

प्राग्भारसम्भृतनभांसि रजांसि रोषादुत्थापितानि कमठेन शठेन यानि।
छायापि तैस्तव न नाथ हता हताशो ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा ॥३१॥

अर्थात्, हे नाथ ! उस दुष्ट कमठ ने क्रोधावेश में जो धूल आपके ऊपर फेंकी, वह आपकी छाया पर भी आघात नहीं पहुंचा सकी।

इस प्रकार उस दुष्ट सम्बर देव ने सात दिन तक पार्श्वनाथ के ऊपर घोर उपसर्ग किये। यहाँ तक कि उसने छोटे मोटे पर्वत तक लाकर उनके समीप गिराए। अवधिज्ञान से यह उपसर्ग जानकर नागेन्द्र धरणेन्द्र अपनी इन्द्राणी के साथ वहाँ आया। वह फणा रूपी मण्डप से सुशोभित था। धरणेन्द्र ने भगवान को चारों ओर से घेरकर अपने फणों के ऊपर उठा

लिया। पद्मावती देवी भगवान के ऊपर वज्रमय छत्र तानकर खड़ी हो गई।

आचार्य पद्मकीर्ति ने 'पासनाह चरिउ' में इस घटना का सजीव वर्णन करते हुए कुछ ऐसा विवरण उपस्थित किया है जो संभवत: किसी जैन ग्रन्थ में उपलब्ध नही होता। यद्यपि वह विवरण परम्परा के अनुकूल नहीं है, किन्तु वह है अत्यन्त रोचक। अत: पाठकों की जानकारी के लिये यहाँ दिया जा रहा है—

'घोर और भीषण उपसर्ग करने वाले तथा विपुल शीतल जल की वृष्टि करने वाले असुर की लगातार सात रात्रियाँ व्यतीत हुई; तब भी उसका मन द्वेष रहित नहीं हुआ। घनों द्वारा बरसाया गया जल ज्यों-ज्यों गिरता था, त्यों-त्यों वह जिनेन्द्र के कन्धे तक पहुचता था। जब जल जिनेन्द्र के कन्धे को पार कर गया तब धरणेन्द्र का आसन कम्पित हुआ। उसने तत्काल ही अवधि ज्ञान का प्रयोग किया और समस्त कारण की जानकारी की। जिसके प्रसाद से मुझे नीरोगता और देवत्व की प्राप्ति हुई, उसके ऊपर महान् उपसर्ग उपस्थित है। वह उसी क्षण नागकन्याओ से घिरा हुआ चल पड़ा। मणि किरणों से शोभित तथा मन में मान धारण किये हुए वह नाग पाताल से निकला तथा मंगल ध्वनि करता हुआ और नागकन्याओं से घिरा हुआ तत्काल वहाँ आया। उसने जल में विकसित कमल निर्मित किया। उस कमल पर नागराज अपनी पत्नियों के साथ आरूढ़ हो गया।

नागराज ने जिनवर की प्रदक्षिणा दी, दोनों पाद-पंकज में प्रणाम किया तथा वन्दना की। फिर उसने जिनेन्द्र को जल से उठाया। उसने जिनवर के दोनों चरणों को प्रसन्नता से अपनी गोदी में रखा तथा तीर्थंकर के मस्तक के ऊपर अपना लहलहाता हुआ विशाल फण-मण्डप फैलाया। वह सात फणों से समन्वित था। उस नाग ने फणों के द्वारा पटल को छिद्र रहित बनाया और आकाश से गिरते हुए जल का अवरोध किया। आकाश से जैसे-जैसे जल गिरता था, वैसे-वैसे वह कमल बढ़ता जाता था। असुर ने नागराज और उसकी पत्नियों को देखा, वह अत्यन्त क्रुद्ध होकर नागराज से बोला—'मेरे साथ कलह करना तुम्हारे लिये उपयुक्त नहीं है। मैं तुम्हारे और अपने इस शत्रु के सिर पर अभी बज्र पटकता हूं।' यह कहकर उसने भीषण बज्र फेंका। नागराज ने उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। तब उसने परशु, भाला और शर समूह छोड़ा। भी नागराज के पास तक नहीं पहुंचे। तब वह पर्वत शिखरों से फण मण्डप को कुचलने का प्रयत्न करने लगा,

किन्तु इससे नागराज तनिक भी विचलित नहीं हुआ। असुर के पास जो भी भीषण शस्त्र थे, उन सबको उसने फेंका।

तभी पद्मावती देवी धवल छत्र धारण किये हुए आकाश में प्रगट हुई। महासुर कमठ जिस विशाल और भयंकर शस्त्र को छोड़ता, वह जल रूप परिवर्तित हो जाता या नभ में चक्कर लगाता या उसके सौ-सौ टुकड़े हो जाते। तभी शुक्ल में लीन रहने वाले पार्श्वनाथ को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। इसी समय कमठासुर के मन में भय के साथ-साथ महान् चिन्ता उत्पन्न हुई। तभी सुरेश्वरों के आसन कम्पायमान हुए। भवनवासियों के भवनों में शख स्वय बज उठे। ज्योतिष्क देवों के भवनों में सिंह-गर्जना होने लगी। कल्पवासी देवों के गृहों में घण्टे बजने लगे। व्यन्तर देवों के आवासों में पट-पटह स्वयं बजने लगे। वे सब विमानों में आरूढ़ होकर मन और पवन की गति से चले और वहाँ आये, जहाँ जिनेन्द्र विराजमान थे।

इसी समय इन्द्र ने रौद्र जल देखा मानो वन में भीषण समुद्र हो। उसे देखकर सुरेन्द्र मन में विस्मित हुआ। उसे ज्ञात हो गया कि कमठासुर ने उपसर्ग किया है। उसने क्रोधयुक्त होकर महायुध वज्र को आकाश में घुमाकर तथा पृथ्वी पर पटक कर छोड़ा। उस असुर देव का साहस छूट गया, वह तीनों लोकों में भागता फिरा। वह नभ में भागने लगा, समुद्र में घुस गया। किन्तु वह जहाँ भी गया, वहीं पर वज्र जा पहुंचा। तब वह कहीं त्राण न पाकर जिनेन्द्र की शरण में आया और उन्हें प्रणाम किया। उसी क्षण वह महासुर भयमुक्त हो गया, वज्र भी कृतार्थ हो नभ में चला गया। सुरेन्द्र भगवान के समीप आया। उसने भगवान की तीन प्रदक्षिणाएं दीं और जिनेन्द्र के चरणों में वन्दना की। उसने समवसरण की रचना की। इसी समय कमठासुर ने जिनवर के चरणों में सिर रखते हुए प्रणाम किया। उसने बार-बार भगवान की स्तुति की और सम्यक्त्व ग्रहण करके दस भवों के वैर का त्याग किया।'

केवलज्ञान कल्याणक—

भगवान के शुक्ल ध्यान के प्रभाव से उनका मोहनीय कर्म क्षीण हो गया, इसलिये कमठ शत्रु का सब उपसर्ग दूर हो गया। पार्श्वप्रभु ने द्वितीय शुक्ल ध्यान के द्वारा अवशिष्ट तीन घातिया कर्मों को भी जीत लिया, जिससे उन्हें चैत्र कृष्णा चतुर्दशी के दिन प्रातःकाल के समय विशाखा नक्षत्र

में लोक-अलोक को प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इन्द्रों ने आकर केवलज्ञान की पूजा की। सम्बर नामक ज्योतिष्क देव भी काल-लब्धि पाकर शान्त हो गया और उसने सम्यग्दर्शन सम्बन्धी विशुद्धता प्राप्त करली। यह देख उन बन में रहने वाले सातसौ तपस्वियों ने संयम धारण कर लिया वे सम्यग्दृष्टि हो गये और भगवान पार्श्वनाथ के चरणो में नमस्कार किया। ये सातसौ तपस्वी महीपाल तापस के शिष्य थे। उन्होने भगवान पार्श्वनाथ के चरणों में जिन-दीक्षा लेली। आचार्य समन्तभद्र ने भी 'स्वयभूस्तोत्र'[1] की पार्श्वनाथ स्तुति में सातसौ तापसों द्वारा दिगम्बर दीक्षा लेने का उल्लेख किया है।

इसी समय गजपुर नरेश स्वयभू को ज्ञात हुआ कि तीर्थंकर पार्श्व-नाथ को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है। वह अपने परिजनों के साथ वैभव-पूर्वक वहाँ आया। जिनेन्द्र की परम ऋद्धि को देखकर उसका मन प्रव्रज्या पर गया। जिनवर को प्रणाम कर उसने उसी क्षण दीक्षा लेली। त्रिलोकी-नाथ ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया। वहां उनका प्रथम उपदेश हुआ। मुनि स्वयम्भू भगवान के प्रथम गणधर बने। स्वयम्भू के साथ उनकी कुमारी कन्या प्रभावती ने आर्यिका दीक्षा लेली। वह भगवान के आर्यिका सघ की मुख्य गणिनी हुई।

कल्लुरगड्डु ग्राम (जिला शिमोगा, मैसूर) में सिद्धेश्वर मन्दिर के पास एक शिलालेख सन् ११२२ का उपलब्ध हुआ है। उसमें बताया है कि जब भगवान नेमिनाथ का निर्वाण हुआ, उस समय गंगवशी राजा विष्णु-गुप्त अहिच्छत्र में राज्य कर रहा था। उसने इन्द्रध्वज पूजा की। उसकी स्त्री पृथ्वीमती थी। उसके दो पुत्र थे-भगदत्त और श्रीदत्त। भगदत्त कलिंग देश पर और श्रीदत्त अहिच्छत्र पर राज्य कर रहा था। जब भगवान पार्श्वनाथ को केवलज्ञान हुआ, तब इस राजा के वंशज प्रियबन्धु ने भगवान पार्श्वनाथ के समवसरण में आकर पूजा की। तब इन्द्र ने प्रसन्न होकर इस राजा को पांच आभूषण दिये और अहिच्छत्रपुर का नाम विजयपुर रखा।

भगवान पार्श्वनाथ का चतुर्विध संघ—

भगवान पार्श्वनाथ के समवसरण में स्वयम्भू आदि १० गणधर थे।

---

१. यमीश्वरं वीक्ष्य विधूतकल्मषं तपोधनास्तेऽपि तथा बुभूषवः।
वनौकसः स्वश्रमवन्ध्यबुद्धयः शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे॥

३५० मुनि पूर्व के ज्ञाता, १०६०० शिक्षक, १४०० अवधिज्ञानी, १००० केवलज्ञानी, १००० विक्रियाऋद्धिधारी, ७५० मनःपर्ययज्ञानी और ६०० वादी थे। इस प्रकार कुल १६००० मुनि थे। सुलोचना[1] आदि ३६००० आर्यिकायें थीं। इनके अतिरिक्त १००००० श्रावक और ३००००० श्राविकायें तथा असंख्यात देव-देवियां और संख्यात तिर्यंच थे।

निर्वाण कल्याणक—

भगवान पार्श्वनाथ देश के विभिन्न क्षेत्रों में विहार करके ६९ वर्ष ७ माह तक धर्मोद्योत करते रहे। जब उनकी आयु में एक माह शेष रह गया, तब वे छत्तीस मुनियों के साथ सम्मेदशिखर पर जाकर प्रतिमा योग धारण कर विराजमान हो गये। अन्त में श्रावण शुक्ला सप्तमी को विशाखा नक्षत्र में प्रातःकाल के समय अघातिया कर्मों का क्षय करके मुक्त हो गये। तभी इन्द्रों ने आकार उनके निर्वाण कल्याणक का उत्सव किया।

पार्श्वनाथ और सम्बर के भवान्तर—

भगवान पार्श्वनाथ जन्म-जन्मान्तरों की निरन्तर साधना के द्वारा ही भगवान बने। उन पूर्व जन्मो का विवरण जानना रुचिकर होगा वे पहले मरुभूति मंत्री बने, फिर सहस्रार स्वर्ग में देव बने। वहाँ से आकर वे विद्याधर हुए। तब अच्युत स्वर्ग में देव हुए। आयु पूर्ण होने पर वे वज्र-नाभि चक्रवर्ती हुए। वहाँ छह खण्डों का राज्य-वैभव और भोगों का उपभोग करते हुए आयु पूर्ण होने पर मध्यम ग्रैवेयक में अहमिन्द्र बने। देव पर्याय के पश्चात् वे आनन्द नामक राजा हुए। इसी पर्याय में उन्होंने तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया। अन्त में समाधिमरण करके वे आनत स्वर्ग के इन्द्र बने। इन्द्र पद का भोग करते हुए भी वे भोग में लिप्त नहीं हुए, अपितु उनका अधिक समय धर्म-श्रवण, तीर्थंकरों के उपदेश-श्रवण, तीर्थ-वन्दन आदि में ही व्यतीत होता था। जब उनकी आयु समाप्त हुई, तब वे काशी में अश्वसेन के पुत्र पार्श्वनाथ हुए। इस प्रकार उनकी जो साधना मरुभूति के जन्म में प्रारम्भ हुई थी, वह पार्श्वनाथ के रूप में पूर्ण हुई।

इस आध्यात्मिक अभ्युदय के विरुद्ध नैतिक अधःपतन का एक

---

१. पासनाहचरिउ के अनुसार मुख्य आर्यिका का नाम प्रभावती था।

घिनौना व्यक्तित्व कमठ के रूप में उभरा, जिसने पार्श्वनाथ के विभिन्न जन्मों में उनसे अकारण वैर करके उनका अहित करने का प्रयत्न किया किन्तु वे अपनी आध्यात्मिक साधना की बुलन्दी पर चढ़ते गये और अन्त में कमठ का वह अवाञ्छनीय व्यक्तित्व पार्श्वनाथ की शरण में आकर एकदम निखर उठा। तब उसने क्षुद्रता का वाना उतार फेंका। क्षुद्र से क्षुद्र व्यक्ति भी विवेक जागृत करके अपने जीवन को सुधार सकता है, कमठ का इतिहास इसका एक समर्थ उदाहरण है। मरुभूति के जीवन में उसी के सहोदर कमठ ने विष घोलने का प्रयत्न किया। यहाँ तक कि सहोदर के स्नेह में आकुल मरुभूति को अविवेकी और क्रोधान्ध कमठ ने पत्थर द्वारा मार दिया। मरुभूति तो मरकर देव बना अपने शान्त परिणाम के कारण किन्तु दुष्ट कमठ अपने ही क्रोध में जलकर मरा और कुक्कुट सर्प बना। वहाँ आयु पूरी करके पाँचवें नरक में उत्पन्न हुआ। वहां से निकल कर वह अजगर बना। वह क्रोध के कारण पुनः नरक में गया। आयु समाप्त होने पर वह भील हुआ। फिर नरक में पहुंचा। तब वहां से आकर सिंह बना। फिर नरक में गया। वहाँ से निकलने पर वह महीपाल राजा बना और तपस्या करके सम्बर देव हुआ। किन्तु इतने जन्मों के बाद भी संस्कार के रूप में पाले हुए क्रोध और वैर के कारण उसने भगवान पार्श्वनाथ को दुःख पहुंचाने के अथक और अनेक प्रयत्न किये। पार्श्वनाथ तो अपनी असीम धीरता, शान्ति और क्षमा द्वारा वीतरागता के साकार स्वरूप बनकर सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन गये। सम्बर अपने दैवी बल की निस्सारता का अनुभव करके पार्श्वनाथ के चरणों में आ गिरा और रो रोकर, प्रयाश्चित द्वारा अपने जन्म जन्मान्तरों से सचित क्रोध और वैर में मैल को आंसुओं के रूप में वहाता रहा। हिंसा अहिंसा के सामने हार मान गई, उसने सदा ही हार मानी है और यह अहिंसा का ही प्रभाव है कि क्षुद्र सम्वर का हृदय-परिवर्तन हुआ।

यक्ष-यक्षिणी—

भगवान पार्श्वनाथ के यक्ष का नाम धरणेन्द्र और यक्षिणी का नाम पद्मावती है। तीर्थंकरों के शासन देवों और शासन देवियों में ये दोनों ही सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं, विशेषतः पद्मावती की ख्याति सबसे अधिक है। यही कारण है कि शासन देवों और देवियों की उपलब्ध मूर्तियों में पद्मावती देवी की मूर्तियों की संख्या सर्वाधिक है। यह भी विशेष उल्लेखनीय है कि पद्मावती की मूर्तियों में सबसे अधिक वैविध्य मिलता है। संभवतः इसका कारण यही रहा है कि पद्मावती की बहुमान्यता के कारण

चातुर्याम का समावेश किया गया है।"

कौशाम्बीजी ने जिस वप्प शाक्य का उल्लेख किया है, वह बुद्ध का चाचा था[1] और वह पार्श्वनाथ के धर्म का अनुयायी था। इससे स्पष्ट है कि तथागत बुद्ध के कुल पर भी पार्श्वनाथ के धर्म की गहरी छाप थी। बुद्ध उसी धर्म की छाया में बढ़े और उस धर्म के संस्कारों ने उनके जीवन पर गहरा प्रभाव डाला।

उस समय वैदिक सम्प्रदाय में पुत्रैषणा, लोकैषणा और वित्तैषणा के लिये हिंसामूलक यज्ञ किये जाते थे तथा शरीर को केवल कष्ट देने को ही तप माना जाता था। किन्तु पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म ने वैदिक धर्मानुयायियों के मानस को झकझोर डाला। वेदों की आधिदैविक मान्यता जनता के मन को सन्तुष्ट नहीं कर पा रही थी। श्रमण निर्ग्रन्थों का तप यज्ञ आर्यों को अपने पशु यज्ञों की अपेक्षा और अज्ञान तप की अपेक्षा अधिक प्रभावक और आकर्षक प्रतीत होता था। यही कारण था कि महीपाल तपस्वी के सात सौ शिष्यों ने पार्श्वनाथ के चरणों में आकर श्रमण दीक्षा ले ली। यह अज्ञान तप पर पार्श्वनाथ के श्रमणों के ज्ञान तप की सार्वजनिक विजय थी।

किन्तु इससे भी अधिक प्रभाव पड़ा मूल वैदिक मान्यताओं और विचारधारा पर। यह प्रभाव बड़े सहज रूप में पड़ा, जिसकी कल्पना दोनों पक्षों में से किसी ने भी नहीं की होगी। पार्श्वनाथ के निर्ग्रन्थ वनों में रहते थे। उनके रहने और ध्यान के स्थानों को निषद्, निषदी आदि नामों से पुकारा जाता था। वैदिक आर्य उनके सिद्धान्तों और आचरण से आकर्षित होकर उनका उपदेश सुनने वहाँ जाते थे। उन निषदों के समीप बैठकर उन्होंने जो उपदेश ग्रहण किया और प्रकृति के तत्वों की पूजा के स्थान पर अध्यात्म को ग्रन्थों में गुम्फित किया, उन ग्रन्थों का नाम ही उन्होंने आभार की भावना से उपनिषद् रख दिया। निष्पक्ष दृष्टि से उपनिषदों का अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उपनिषदों में जिस अध्यात्म की विस्तृत चर्चा की गई है, उसका मूल स्रोत वेद नहीं, कोई और ही है और वह वस्तुतः पार्श्वनाथ के श्रमणों का उपदेश है।

पार्श्वनाथ ने भारत के अनेक भागों में विहार करके अहिंसा का जो समर्थ प्रचार किया, उससे अनेक अनार्य और आर्य जातियाँ उनके धर्म में

---

१. अंगुत्तर निकाय

आशाधर प्रतिष्ठा पाठ के अनुसार पद्मावती कुक्कुट सर्प की सवारी करने वाली है तथा कमल के आसन पर बैठती है। उसके सिर के ऊपर सर्प के तीन फणों वाला चिन्ह होता है।

पद्मावती कल्प में चार भुजाओं में पाश, फल, वरदान और अंकुश होते है।

श्वेताम्बर ग्रंथ निर्वाणकलिका, आचार दिनकर आदि के अनुसार पार्श्वनाथ तीर्थंकर के यक्ष का नाम 'पार्श्व' है। हाथी के मुख वाला, सिर के ऊपर सर्प फण, कृष्ण वर्ण वाला और चार भुजा वाला है। उसके दोनों दांये हाथों में बिजौरा और सांप होता है (आचार दिनकर में गदा) तथा बांये हाथों में नेवला और सर्प धारण करता है। श्वेताम्बर ग्रन्थों में उसकी सवारी कुक्कुट सर्प बताई है।

इसी प्रकार पार्श्वनाथ की यक्षी का नाम पद्मावती है। वह सुवर्ण वर्ण वाली, कुक्कुट सर्प की सवारी और चार भुजाओं वाली है उसके दांये हाथों में कमल और पाश हैं तथा बाये हाथो में फल और अकुश होते हैं। (आचार दिनकर के अनुसार बाये हाथो में पाश और कमल होते हैं।)

दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थों में पद्मावती देवी का जो उपर्युक्त स्वरूप बतलाया है, उसके अनुरूप पद्मावती देवी की कुछ मूर्तियां अवश्य मिलती है, किन्तु परम्परा से हटकर भी अनेक मूर्तिया उपलब्ध होती हैं। कुछ मूर्तियां अष्टभुजी, बारहभुजी और षोडशभुजी भी मिलती है। प्रायः पद्मावती की मूर्तियो के सिर के ऊपर फणावलियुक्त पार्श्वनाथ मूर्ति विराजमान होती है और जो पद्मावती मूर्ति पार्श्वनाथ युक्त नही होती, उसके ऊपर सर्प फण बना होता है। इससे पद्मावती देवी की मूर्ति की पहचान हो जाती है। किन्तु कुछ ऐसी भी मूर्तिया मिलती है, जिनकी एक गोद में बालक और दूसरी ओर उगली पकड़े हुए एक बालक खड़ा है। बालकों को देखकर यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि ऐसी मूर्ति अम्बिका देवी की होनी चाहिये। किन्तु सिर पर सर्प फण होने के कारण ऐसी मूर्ति पद्मावती देवी की मानी जाती है। ऐसी अद्भुत मूर्तियो देवगढ में मिलती है। इसका एकमात्र कारण कलाकारों की स्वातन्त्र्यप्रियता ही कही जा सकती है। वे बंध हुए ढर्रे से बधे नहीं रह सके और उन्होने अपनी कल्पना की उड़ान से पद्मावती देवी को नये रूप दिये, नये आयाम दिये और नया आकार प्रदान किया। जो व्यक्ति शास्त्रों में उल्लिखित रूप के अनुकूल

पद्मावती देवी की अनेक मूर्तियों को देखकर सन्देह और भ्रम में पड़ जाते हैं, उन्हें इस तथ्य को हृदयंगम करना चाहिये कि कलाकार कोई बन्धन स्वीकार नहीं करता, वह स्वतन्त्रचेता होता है, स्वातन्त्र्य प्रिय होता है। इसलिये कलाकारों की नित नवीन कल्पनाओं में से पद्मावती देवी के नाना-विध रूप उभर कर आये।

भगवान पार्श्वनाथ का लोकव्यापी प्रभाव—

भगवान पार्श्वनाथ का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावक था। उनकी साधना महान थी। उनकी वाणी में करुणा, शुचिता और शान्ति-दान्ति का संगम था। उन्होंने अपने उपदेशों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह इस चातुर्याम संवर पर अधिक बल दिया था। उनके सिद्धान्त सर्वथा व्यावहारिक थे। इसी कारण उनके व्यक्तित्व और उपदेशों का प्रभाव जन-जन के मानस पर अत्यधिक पड़ा। इतना ही नहीं, तत्कालीन वैदिक ऋषिगण, राजन्य वर्ग और पश्चात्कालीन धर्मनेताओं पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। इतिहासकारों ने उनके धर्म के सम्बन्ध में लिखा है—

"श्री पार्श्वनाथ भगवान का धर्म सर्वथा व्यवहार्य था। हिंसा, असत्य, स्तेय और परिग्रह का त्याग करना यह चातुर्याम संवरवाद उनका धर्म था। इसका उन्होंने भारत भर में प्रचार किया। इतने प्राचीन काल में अहिंसा को इतना सुव्यवस्थित रूप देने का यह सर्वप्रथम उदाहरण है।

"श्री पार्श्वनाथ ने सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह इन तीनों नियमों के साथ अहिंसा का मेल बिठाया। पहले अरण्य में रहने वाले ऋषि-मुनियों के आचरण में जो अहिंसा थी, उसे व्यवहार में स्थान न था। तथा तीन नियमों के सहयोग से अहिंसा सामाजिक बनी, व्यावहारिक बनी।"

ठाणांग २०१ अ० के अनुसार उस चातुर्याम में १ सर्व प्राणातिपात विरति (सव्वाओ पाणइवायओ वेरमण) २ सर्व मृषावाद विरति (सव्वाओ मुसावायओ वेरमण), ३ सर्वअदत्तादान विरति (सव्वाओ अदत्तादाणाओ वेरमण ४ सर्व बहिरादान विरति (सव्वाओ बहिद्धदाणाओ वेरमणं) ये चार व्रत थे। भगवान महावीर ने चातुर्याम के स्थान पर पंच शिक्षिक या पंच महाव्रत बतलाये थे। ये पंचमहाव्रत चातुर्याम के ही विस्तृत रूप थे। मूल दृष्टि कोण में कोई अन्तर नहीं था।

"इसी चातुर्याम का उपदेश भगवान पार्श्वनाथ ने दिया था और

गान्धार नरेश नागजित् पार्श्वनाथ के समकालीन थे और पार्श्वनाथ के भक्त थे। पार्श्वनाथ के तीर्थ में उत्पन्न हुए कलिंग नरेश करकण्डु पार्श्वनाथ के अनुयायी थे और उन्होंने तेर (जिला उस्मानाबाद) में लयण स्थापित किये और पार्श्वनाथ भगवान की मूर्तियों की स्थापना की।

इस प्रकार अनेक नरेश पार्श्वनाथ के काल में और उनके पश्चात्काल में पार्श्वनाथ को अपना इष्टदेव मानते थे।

भगवान पार्श्वनाथ का बिहार जिन देशों में हुआ था, उन देशों में अंग, बंग, कलिंग, मगध, काशी, कोशल, अवन्ति, कुरु, पुण्ड्र, मालव, पाँचाल, विदर्भ, दशार्ण, सौराष्ट्र, कर्नाटक, कोंकण, लाट, कच्छ, काश्मीर, शाक, पल्लव, और आभीर आदि देश थे। ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं कि वे तिब्बत[1] में भी पधारे थे। भगवान ने जिन देशों में बिहार किया था, वहां सर्वसाधारण पर उनका व्यापक प्रभाव पड़ा था और वे उनके भक्त बन गये थे।

उनके लोकव्यापी प्रभाव का ही यह परिणाम है कि तीर्थंकर मूर्तियों में सर्वाधिक मूर्तियां पार्श्वनाथ की ही उपलब्ध होती हैं और उनके कारण पद्मावती देवी की भी इतनी ख्याति हुई कि आज भी शासन देवियों में सबसे अधिक मूर्तियाँ पद्मावती की ही मिलती हैं।

पार्श्वनाथ की जन्म नगरी-काशी—

काशी की तीर्थक्षेत्र के रूप में प्रसिद्धि सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के काल से ही हो गई थी। किन्तु यह सर्वमान्य तीर्थ बना पार्श्वनाथ के कारण। पार्श्वनाथ काशी के वर्तमान भेलूपुरा मुहल्ले में काशी नरेश अश्वसैन की महारानी वामादेवी की पवित्र कुक्षि से उत्पन्न हुए थे। यहाँ पन्द्रह माह तक कुवेर ने रत्न वर्षा की थी। यहीं देवों और इन्द्रों ने उनके गर्भ-जन्म कल्याणकों के महोत्सव मनाये थे।

उस काल में गंगा का सम्पूर्ण प्रदेश वानप्रस्थ तपस्वियों का केन्द्र था। वाराणसी तथा गंगा-तट के अन्य प्रदेशों में अनेक प्रकार के तापस नाना नाम रूप धारण करके विचित्र क्रियाओं में रत रहते थे। नानाविध वेष धारण करने और विचित्र-विचित्र प्रकार की क्रियायें करने का उनका

---

१. मेजर जनरल फर्लाग

कलाकारों ने कल्पना से काम लिया है। शास्त्रानुसार दिगम्बर परम्परा में धरणेन्द्र और पद्मावती का रूप इस प्रकार मिलता है—

धरणेन्द्र का रूप—

ऊर्ध्वद्विहस्तधृतवासुकिरुद्भटाधः सव्यान्यपाणिफणिपाशवरप्रणन्ता।
श्रीनागराजककुदं धरणोऽभ्रनीलः, कूर्मश्रितो भजतु वासुकिमौलिरिज्याम् ॥

अर्थ—नागराज के चिन्हवाला भगवान पार्श्वनाथ का शासनदेव धरणेन्द्र नामक यक्ष है। वह आकाश के वर्ण वाला, कछुए की सवारी वाला, मुकुट में सर्प के चिन्ह वाला और चार भुजाओं वाला है। उसके ऊपरी दोनों हाथों में सर्प तथा नीचे के बांये हाथ में नाग पाश तथा दायां हाथ वरदान मुद्रा में है।

पद्मावती देवी का रूप इस प्रकार बताया है—

देवी पद्मावती नाम्ना रक्तवर्णा चतुर्भुजा।
पद्मासनाङ्कुशं धत्ते स्वक्षसूत्रं च पङ्कजम् ॥
अथवा षड्भुजादेवी चतुर्विंशति सद्भुजाः।
पाशासिकुन्तबालेन्दु गदामुसलसंयुतम् ॥
भुजाषट्कं समाख्यातं चतुर्विंशतिरुच्यते।
शङ्खासिचक्रबालेन्दु-पद्मोत्पल शरासनम् ॥
शक्ति पाशाङ्कुशं घण्टां बाणं मुसलखेटकम्।
त्रिशूलं परशुं कुन्तं वज्रमालां फलं गदाम् ॥
पत्रं च पल्लवं धत्ते वरदा धर्मवत्सला।

अर्थ—पार्श्वनाथ तीर्थंकर की शासनदेवी पद्मावती देवी है। वह लाल वर्ण वाली, कमल के आसन वाली और चार भुजाओं में अंकुश, माला, कमल और वरदान मुद्रा है। अथवा वह छह अथवा चौबीस भुजा वाली भी होती है। छह हाथों में पाश, तलवार, भाला, बालचन्द्र, गदा और मूसल धारण करती है। तथा चौबीस हाथों में क्रमशः शंख, तलवार, चक्र, बालचन्द्र, सफेद कमल, लाल कमल, धनुष, शक्ति, पाश, अंकुश, घण्टा, बाण, मूसल, ढाल, त्रिशूल, फरसा, भाला, वज्र, माला, फल, गदा, पत्र, पत्र गुच्छक और वरदान मुद्रा होती है।[1]

---

१. ठक्कुर फेरू कृत वास्तुसार प्रकरण

दीक्षित हो गई। नाग, द्रविड़ आदि जातियों में उनकी मान्यता असंदिग्ध थी। वेदों और स्मृतियों में इन जातियों का वेदविरोधी व्रात्य के रूप में उल्लेख मिलता है।

वस्तुतः व्रात्य श्रमण संस्कृति की जैन धारा के अनुयायी थे। इन व्रात्यों में नाग जाति सर्वाधिक शक्तिशाली थी। तक्षशिला, उद्यानपुरी, अहिच्छत्र, मथुरा, पद्मावती, कान्तिपुरी, नागपुर आदि इस जाति के प्रसिद्ध केन्द्र थे। पार्श्वनाथ नाग जाति के इन केन्द्रों में कई बार पधारे थे। एक बार वे नागपुर (वर्तमान हस्तिनापुर) में पधारे। वहां का एक व्यापारी बन्धुदत्त अनेक दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं से गुजरता हुआ एक बार भीलों द्वारा उसके साथियों सहित पकड़ लिया गया और बलिदान के लिए देवता के आगे ले जाया गया। उसकी पत्नी प्रियदर्शना को भील सरदार ने अपने आवास में धर्म-पुत्री के रूप में रक्खा था। प्रियदर्शना को अपने पति के दुर्भाग्य का कुछ भी ज्ञान नहीं था और जब भी उसने भील सरदार से अपने पति के सम्बन्ध में कुछ कहने का प्रयत्न किया, भील सरदार की भाषा के कारण उसकी बात नहीं समझ सका। एक दिन सरदार अपनी धर्म-पुत्री को अपने जातीय उत्सव को दिखाने ले गया। उस उत्सव में बन्धुदत्त का बलिदान होना था। बलिदान का क्रूर दृश्य वह न देख सके, इसलिये प्रियदर्शना की आंखों पर पट्टी बांध दी गई। जब उसने देवता के आगे खड़े अपने पति की प्रार्थना करते हुए सुना तो उसने पट्टी उतार फेंकी और दौड़कर अपने पति के साथ खड़ी हो गई तथा वह भी बलिदान के लिये तैयार हो गई। भील सरदार को आखिर बन्धुदत्त और उसके साथियों को छोड़ना पड़ा किन्तु भील सरदार के समक्ष समस्या थी कि देवता को नर-मांस के बिना प्रसन्न कैसे किया जाय, जिसका उत्तर बन्धुदत्त ने अहिंसात्मक ढंग से दिया और देवता को फल-फूलों से सन्तुष्ट किया। भील सरदार अहिंसा की इस अपरिचित विधि से बड़ा प्रभावित हुआ। वह बन्धुदत्त के आग्रह से उसके साथ नागपुर गया और वहाँ पधारे हुए भगवान पार्श्वनाथ के दर्शन किये। भगवान का उपदेश सुनकर वह भील सरदार सदा के लिये जैन धर्म और अहिंसा का कट्टर उपासक बन गया। इस प्रकार न जाने कितने व्यक्ति जातियाँ और प्रदेश पार्श्वनाथ का उपदेश सुनकर उनके धर्म में दीक्षित हो गये।

भगवान पार्श्वनाथ का सर्वसाधारण पर कितना प्रभाव था, यह आज भी बंगाल-बिहार-उड़ीसा में फैले हुए लाखों सराकों, बंगाल के मेदिनीपुर जिले के सद्गोपों, उड़ीसा के रंगिया जाति के लोगों, अलक बाबा आदि के जीवन-व्यवहार को देखने से पता चलता है। यद्यपि भगवान

पार्श्वनाथ को लगभग पौने तीन हजार वर्ष व्यतीत हो चुके है और ये जातियां किन्ही बाध्यताओं के कारण जैन धर्म का परित्याग कर चुकी है किन्तु आज भी ये जातियां पार्श्वनाथ को अपना आद्य कुलदेवता मानती हैं, पार्श्वनाथ के उपदेश परम्परागत रूप से इन जातियो के जीवन में अब तक चले आ रहे है। पार्श्वनाथ [illegible] इस प्रकार इनके जीवन में गहरी जड़ जमा चुके है। इसलिये ये लोग अहिंसा में पूर्ण विश्वास करते है, मांस-भक्षण नही करते, रात्रि-भोजन नही करते, जल छानकर पीते हैं, जैन तीर्थों की यात्रा करते है [illegible], पार्श्वनाथ और महावीर की उपासना करते है, अष्टमी चतुर्दशी को उपवास करते है। जिन [illegible] में ये लोग रहते है, वहा मांसाहार [illegible] है, [illegible] धर्म के ये अनुयायी है, उसमें [illegible] साधारण बात है, [illegible] अपने संस्कारों की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करते चले आ रहे है। यह उनकी दृढ़ आस्था और विश्वास का प्रमाण है। [illegible] और विश्वास उस महापुरुष के प्रति है, जिसने पौने तीन हजार वर्ष पूर्व इन्हे [illegible] प्रकाश दिया था। उस प्रकाश को ये लोग आज तक [illegible] रखे हुए है। इन जातियों के अतिरिक्त [illegible] भील जाति पार्श्वनाथ का [illegible] है। इस जाति के लोग मकर सक्रान्ति के दिन सम्मेद शिखर की [illegible] की वन्दना करते है और पार्श्वनाथ टोंक पर एकत्रित होकर उत्सव मनाते है [illegible] हैं।

इन जातियों [illegible] अपने आराध्य पार्श्वनाथ के प्रति अपने हृदय की श्रद्धा और [illegible] सम्मेद शिखर का नाम पारसनाथ हिल रख दिया है और वह नाम अब बहुत [illegible] हो गया है।

सर्व [illegible] ने महान राजवंशों पर भगवान पार्श्वनाथ का व्यापक प्रभाव था। [illegible] साहित्यिक [illegible] और पुरातात्त्विक प्रमाण उपलब्ध होते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि [illegible] नरेश [illegible] ने भगवान के समीप प्रव्रज्या ग्रहण की, और [illegible] नरेश [illegible] ने भगवान के दर्शन किये और उनका अनुयायी बना। उस समय जितने [illegible] राजा थे वे पार्श्वनाथ के उपासक थे। जब भगवान [illegible]पुर पधारे तो वहाँ का राजा प्रभंजन उनका भक्त बन गया। वाराणसी नरेश अश्वसेन और महारानी वामादेवी ने भगवान के निकट दीक्षा ग्रहण कर ली। वज्जि संघ के लिच्छवी आदि आठ कुल उनके भक्त थे। उस संघ के गणपति चेटक, क्षत्रियकुण्ड के गणपति भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ भी पार्श्वनाथ सम्प्रदाय के उपासक थे। पांचाल नरेश दुर्मुख, विदर्भ नरेश भीम और

उन्होंने इसी के द्वारा अहिंसा का भारतव्यापी प्रचार किया था। ईसवी सन् से आठ शताब्दी पूर्व भगवान पार्श्वनाथ ने चातुर्याम का जो उपदेश दिया था वह काल अत्यन्त प्राचीन है और वह उपनिषद् काल, बल्कि उससे भी प्राचीन ठहरता है[1]।"

भगवान पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म का प्रभाव अत्यन्त दूरगामी हुआ। उनके बाद जितने धर्म संस्थापक हुए, उन्होंने अपने धर्म सिद्धान्तों की रचना में पार्श्वनाथ के चातुर्यामों में बड़ी सहायता ली। इनमें आजीवक मत के संस्थापक गोशालक और बौद्ध मत के संस्थापक बुद्ध मुख्य हैं। म० बुद्ध के जीवन पर तो पार्श्वनाथ के चातुर्याम की गहरी छाप थी। वे प्रारम्भ में पार्श्वापत्य अनगार पिहिताश्रव से दीक्षा लेकर जैन श्रमण भी बने थे, इस प्रकार के उल्लेख रत्नकरण्ड श्रावकाचार १-१० आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। जैन साहित्य में बताया गया है कि भगवान पार्श्वनाथ के तीर्थ में सरयू नदी के तटवर्ती पलाश नामक नगर में पिहिताश्रव साधु का शिष्य बुद्धकीर्ति मुनि हुआ। वह बहुश्रुत एवं शास्त्रज्ञ था। किन्तु मत्स्याहार करने के कारण वह दीक्षा से भ्रष्ट हो गया और रक्ताम्बर धारण करके उसने एकान्त मत की प्रवृत्ति की।

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि बुद्ध पार्श्वापत्य सम्प्रदाय में दीक्षि हुए थे। यह भी कहा जाता है कि वे छह वर्ष तक जैनश्रमण रहे किन्तु तपस्या की कठिनाईयों से घबड़ा कर उन्होंने जैन मार्ग का परित्याग कर दिया। 'दीघ निकाय' में स्पष्ट उल्लेख है कि मैंने जैन श्रमणोचित तप किये, केश लुंचन किया।

बौद्ध विद्वान् आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी ने 'पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म' निबन्ध में लिखा है—"निग्रन्थों के श्रावक 'वप्प' शाक्य के उल्लेख से स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थों का चातुर्याम धर्म शाक्य देश में प्रचलित था, परन्तु ऐसा उल्लेख कहीं नहीं मिलता कि उस देश में निर्ग्रन्थों का कोई आश्रम हो। इससे ऐसा लगता है कि निर्ग्रन्थ श्रमण बीच बीच में शाक्य देश में जाकर अपने धर्म का उपदेश करते थे। ···· तब बोधिसत्व 'उद्रक राम-पुत्र का आश्रम छोड़कर राजगृह चले गये। वहाँ के श्रमण सम्प्रदाय में उन्हें आलार निर्ग्रन्थों का चातुर्याम संवर ही विशेष पसंद आया क्योंकि आगे चलकर उन्होंने जिस आर्य अष्टांगिक मार्ग का प्रवर्तन किया, उसमें

1. डॉ० हर्मन जैकोबी (परिशिष्ट पर्व पृ० ६)

उद्देश्य जनता को अपनी ओर आकर्षित करना और अपने आपको महान तपस्वी सिद्ध करके जनता में प्रतिष्ठा प्राप्त करना था। उन तापसों की इन क्रियाओं से विवेक और धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं था। होत्तिय तापस अग्निहोत्र करते थे। कोत्तिय भूमि पर सोते थे। पोत्तिय वस्त्र पहनते थे। जण्णई यज्ञ करते थे। थाल अपना सब सामान साथ लेकर चलते थे। हुंबाट्ठे कुण्डिका लेकर चलते थे। दन्तुक्खलिय दांत से पीस कर कच्चा अन्न खाते थे। मियलुद्धय जीव हत्या करते थे। इसी प्रकार अंबुवासी बिलवासी, जलवासी, रक्खमूल, सेवालभक्खी आदि न जाने कितने प्रकार के तापस इस क्षेत्र में सक्रिय थे। इन सबका बड़ा रोचक और विस्तृत वर्णन श्वेताम्बर आगम ग्रन्थ 'उववाई सूत्र' में मिलता है।

उस समय नाग-पूजा और यक्ष-पूजा बहुत प्रचलित थी। इतिहासकारों ने इसके मूल स्रोत और कारणों के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रगट किये हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि नाग जाति और उसके वीरों के शौर्य की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए नाग-पूजा प्रचलित हो गई। किन्तु नाग-पूजा का यह कोई युक्तियुक्त कारण नहीं लगता। भारत में नाग जाति अत्यन्त प्राचीन काल से मिलती है। नाग जाति अत्यन्त सुसंस्कृत, समृद्ध और सुन्दर जाति थी। नाग कन्याओं के सौन्दर्य की चर्चा प्राचीन साहित्य में अनेक स्थलों पर मिलती है। रामायण और महाभारत में अनेक नाग कन्याओं के विवाह की चर्चा आई है। राम-पुत्र लवणांकुश का विवाह एक नाग-कन्या के साथ हुआ था। अर्जुन की दो रानियां— चित्राङ्गदा और उलूपी नाग-कन्यायें थी। शूरसेन प्रदेश के अधिपति शूर की माता और उग्रसेन की रानी नाग जाति की थी। नाग जाति के उपद्रवों को समाप्त करने के लिए श्रीकृष्ण और अर्जुन ने खाण्डव वन का दाह किया था। उस वन में नाग लोग रहते थे। खाण्डव वन में चारों ओर से आग लगने पर उस वन के बीच में बसे हुए नागों की बस्तियां जलकर भस्म हो गई और उनके साथ अनेक नाग स्त्रीपुरुष जल मरे। संयोग से उन नागों का सरदार तक्षक उस समय कहीं बाहर गया हुआ था। जब उसे इस कुटिल षड्यन्त्र का पता चला तो वह क्रुद्ध हो उठा। वह बल-संचय करने के लिए उत्तरापथ की ओर चला गया और विशाल वाहिनी लेकर उसने हस्तिनापुर के ऊपर आक्रमण कर दिया। उस समय हस्तिनापुर में अर्जुन का पौत्र परीक्षित शासन कर रहा था। परीक्षित ने प्रतिरोध करने का प्रयत्न किया। किन्तु सफल नहीं हो सका और वह तक्षक के हाथों मारा गया। इसका प्रतिशोध परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने बड़ी क्रूरतापूर्वक लिया। उसने नाग जाति का विध्वंस करना आरम्भ कर

दिया। नाग जाति के बड़े-बड़े केन्द्र नष्ट हो गये, बड़े-बड़े वीर मारे गये। अन्त में जनमेजय की शर्तों पर दोनों पक्षों में समझौता हुआ। किन्तु जनमेजय की मृत्यु के पश्चात् नाग जाति एक बार पुनः प्रबल हो उठी और उसने अनेक सत्ता केन्द्र बना लिये। इससे यह तो सिद्ध होता है कि नाग मनुष्य थे, सर्प नहीं, जैसा कि हिन्दू पुराणों में वर्णन किया गया है। किन्तु इस प्रकार के उल्लेख हमें कहीं नहीं मिलते कि वीर नागों की पूजा भी की जाती थी।

वस्तुतः नाग-पूजा का प्रचलन भगवान पार्श्वनाथ के काल से प्रारम्भ हुआ है। यहाँ दो बातें विशेष उल्लेखनीय हैं। एक तो यह कि पार्श्वनाथ से पूर्व नाग-पूजा प्रचलित थी, इस प्रकार के उल्लेख किसी पुराण ग्रन्थ में नहीं मिलते। दूसरी बात जो ध्यान देने की है वह यह है कि पार्श्वनाथ के जीवन-काल में काशी में नाग-पूजा का अत्यधिक प्रचलन था। यदि हम पार्श्वनाथ के जीवन पर गहराई से विचार करें तो हमें इसका उत्तर सहज ही मिल जाता है। पार्श्वनाथ काशी के ही राजकुमार थे। उनके प्रति जनता के मन में अपार प्रेम और श्रद्धा थी। जनता उन्हें अपना आराध्य मानती थी। उनकी रक्षा धरणेन्द्र ने नाग का रूप धारण करके की थी, भोली जनता ऐसा समझती थी। इसलिये कृतज्ञता प्रगट करने के लिये जनता उस नाग की पूजा करने लगी। काशी में नाग-पूजा के प्रचलन का यही रहस्य था। वहीं से प्रारम्भ होकर नाग-पूजा देश के अन्य भागों में फैल गई। नाग-पूजा जनता की अत्यधिक श्रद्धा का परिणाम थी। सर्व साधारण की श्रद्धा के आंखे नहीं होतीं। तब न केवल स्वतन्त्र नाग-पूजा ही चल पडी, वरन् पार्श्वनाथ की मूर्तियों के साथ भी नागेन्द्र जुड़ गया। इसका कारण धरणेन्द्र द्वारा पार्श्वनाथ की रक्षा करने की घटना की स्मृति को सुरक्षित रखना था। यहाँ तक तो कुछ समझ में आने लायक बात मानी भी जा सकती है किन्तु पार्श्वनाथ के साथ नाम-साम्य के कारण सुपार्श्व-नाथ को मूर्ति पर भी सर्प-फण लगाये जाने लगे। जबकि सुपार्श्वनाथ का लांछन स्वस्तिक माना गया है। इस प्रकार पार्श्वनाथ के समान धरणेन्द्र और पद्मावती की असंख्य मूर्तियाँ बनने लगीं। इसे पार्श्वनाथ के प्रति जनता की अतिशत श्रद्धा के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है।

काशी में यक्ष-पूजा का बहुत प्रचलन था, इसका कारण पार्श्वनाथ के प्रति जनता के असीम प्रेम के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। धरणेन्द्र और पद्मावती पार्श्वनाथ के यक्ष-यक्षिणी माने गये है। वे पार्श्वनाथ के अनन्य सेवक माने जाते हैं। एक ओर तो जनता ने उनके नाग रूप की

पूजा प्रारम्भ की, दूसरी ओर उनके यक्ष की पूजा की जाने लगी। काशी में उस समय प्रचलित नाग-पूजा और यक्ष-पूजा का यही रहस्य है और वह पार्श्वनाथ की जीवन घटना के साथ ऐसा सम्बन्धित है कि उन्हें उससे पृथक करके देखना सम्भव नहीं है।

काशी ऋषभदेव भगवान के काल से ही एक प्रसिद्ध जनपद रहा है। वहाँ अनेक सांस्कृतिक, पौराणिक और ऐतिहासिक घटनायें हुई हैं। कर्मयुग के प्रारम्भ के काशी नरेश अकंपन की पुत्री सुलोचना के स्वयंवर के कारण स्वयंवर प्रथा का जन्म हुआ और इस प्रकार काशी ने कन्याओ को अपना मनोभिलषित वर चुनने की स्वतन्त्रता प्रदान करके नारी-स्वतन्त्रता के नये आयाम प्रस्तुत किये। भारत में स्वयंवर प्रथा का प्रारम्भ इसी घटना से हुआ है और वह सुदीर्घ काल तक भारत में प्रचलित रही। इतिहास में संभवत: संयोगिता-स्वयम्वर के पश्चात् यह प्रथा समाप्त हो गई। कारण तत्कालीन परिस्थितियाँ—विशेषत: मुस्लिम शासकों के अनाचार और बलात्कार रहे। किन्तु एक लम्बे समय तक यह प्रथा भारत में लोकप्रिय रही।

नौवें चक्रवर्ती पद्म ने काशी को सम्पूर्ण भारत की राजधानी बनाकर इसे राजनैतिक महत्त्व प्रदान किया।

जैन धर्म के प्रभावक आचार्य समन्तभद्र को यहाँ कड़ी साम्प्रदायिक परीक्षा में से गुजरना पड़ा था। उनके समक्ष धर्मान्ध नरेश शिवकोटि ने दो विकल्प रक्खे-धर्म-परिवर्तन अथवा मृत्यु। आचाय के सिर नंगी तलवारें तनी हुई थीं। किन्तु उनके समक्ष प्रश्न मृत्यु का नहीं; आत्मश्रद्धा का था। अपने जीवन से भी अधिक उन्हें प्रिय थे वे सिद्धान्त और वह धर्म, जिसके प्रति वे सर्वान्त:करण से समर्पित थे। उनके मन में भय की तनिक सी भी रेखा नहीं थी। उनका हृदय तो उन मोहान्ध व्यक्तियों के प्रति अपार करुणा से भरा हुआ था, जिन्हें सत्य और असत्य के बीच भेद करने की तनिक भी बुद्धि नहीं थी और जो केवल अपने साम्प्रदायिक आग्रह को ही सत्य का निर्णायक मान बैठे थे। आचार्य उनके कल्याण की कामना मन में संजोये अपने आराध्य प्रभु के स्तवन में निरत हो गये। एक योगी की उपासना सर्वसाधारण से सर्वथा भिन्न रहती है। उसकी इच्छा-शक्ति के समक्ष निर्जीव पाषाण भी द्रवित हो जाते हैं। महायोगी समन्तभद्र जब चन्द्रप्रभ तीर्थंकर की स्तुति कर रहे थे, उनकी इच्छा-शक्ति अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई। उनके मानस नेत्रों के आगे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र विराज-

मान थे। उनकी रोम-रोम में चन्द्रप्रभ भगवान एकाकार हो गये। उनकी महान इच्छा-शक्ति के आगे शिवलिंग के पाषाण का हृदय फूट गया और उसके अन्तर से चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रस्फुटित हुई, मानो शिवलिंग के अन्तर में चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र की भक्ति समा नहीं पाई और उसने जिनेन्द्रप्रभु को अपने शीर्ष पर विराजमान करके अपनी प्रभु-भक्ति को एक आकार प्रदान किया। जब पाषाण का कठोर हृदय प्रभावित हो सकता है तो क्या मानवों के हृदय अप्रभावित रह सकते थे। राजा और प्रजा सभी चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र और उनके अनन्य उपासक योगी समन्तभद्र के चरणों में नत हो गये और सबने उनसे सत्य की दीक्षा ली। सम्पूर्ण राजा-प्रजा ने एक साथ धर्म-दीक्षा ली हो. ऐसी घटनायें विरल ही है। यह उन विरल घटनाओं में प्रमुख घटना है और आज भी इस घटना की स्मृति को फटे महादेव अपने भीतर संजोये हुए हैं, जिनका नाम कुछ समय पूर्व तक समन्तभद्रेश्वर था।

इसी नगर में सुपार्श्वनाथ तीर्थंकर का जन्म हुआ था और यहीं पार्श्वनाथ तीर्थंकर ने जन्म लिया था। पार्श्वनाथ के उपदेशों से प्रभावित होकर उनके माता-पिता ने भी दीक्षा ले ली।

इस प्रकार यहां न जाने कितनी महत्वपूर्ण घटनायें घटित हुई।

काशी एक समृद्ध नगर था। वह व्यापारिक केन्द्र भी था। जल और स्थल दोनों मार्गों द्वारा भारत के प्रसिद्ध नगरों के साथ काशी जनपद का सम्बन्ध था। काशी से राजगृह, श्रावस्ती तक्षशिला, वेरजा, और मथुरा तक स्थल मार्ग था। काशी से ताम्रलिप्ति होकर पूर्वी समुद्र के लिये जल मार्ग था। इसीलिये प्राचीन भारत की समृद्ध नगरियों में काशी की गणना की जाती थी।

वस्तुतः काशी जनपद और उसकी प्रमुख नगरी वाराणसी सभी दृष्टियों से महत्वपूर्ण नगरी थी।

पार्श्वनाथ की निर्वाण भूमि—सम्मेद शिखर—

सम्मेद शिखर संसार के सम्पूर्ण तीर्थक्षेत्रों में सबसे महत्वपूर्ण तीर्थ है। इसीलिये इसे तीर्थराज कहा जाता है। इसका महत्व शास्त्रों में इतना बताया है—"एक बार बन्दे जो कोई, ताहि नरक पशु गति नहीं होई।" संभवतः हिन्दी कवि सम्मेद शिखर का माहात्म्य पूर्ण रूप से प्रदर्शित नहीं कर सके हैं। सम्मेद शिखर की वन्दना करने का फल केवलमात्र नरक और

पशुगति से ही छुटकारा मिलना नहीं है, यह तो सभी कल्याणक तीर्थों की वन्दना का फल होता है। सम्मेद शिखर की वन्दना का वास्तविक फल तो यह है कि उसकी एकबार वन्दना और यात्रा करने से परम्परा से संसार के जन्म-मरण से भी छुटकारा मिल जाता है। यहाँ अभव्य और दूरान्दूर भव्य के भाव वन्दना करने के हो ही नहीं सकते। यदि ऐसा कोई व्यक्ति लोक दिखावे के लिये सम्मेद शिखर की यात्रा के लिये जाता भी है तो उसकी वन्दना नहीं हो सकती, कोई न कोई बाधा या अन्तराय आ ही जाता है। इस प्रकार के उदाहरण हमें मिलते हैं।

इसे तीर्थराज कहने का विशेष कारण है। शास्त्रों में कथन है कि सम्मेद शिखर और अयोध्या अनादि धन तीर्थ हैं। अयोध्या में सभी तीर्थंकरों का जन्म होता है और सम्मेद शिखर में सभी तीर्थंकरों का निर्वाण होता है। किन्तु इस हुण्डावसर्पिणी काल में काल-दोष से इस शाश्वत नियम का व्यतिक्रम हो गया। अयोध्या में केवल पांच तीर्थंकरों का ही जन्म हुआ और सम्मेद शिखर में बीस तीर्थंकरों का निर्वाण हुआ। ऋषभदेव, वासुपूज्य, नेमिनाथ और महावीर तीर्थंकर का निर्वाण क्रमशः कैलाश, चम्पापुरी, गिरनार और पावापुरी में हुआ, शेष तीर्थंकरों का निर्वाण सम्मेद शिखर पर हुआ। इनके अतिरिक्त असंख्य मुनियों ने भी यहाँ से मुक्ति प्राप्त की।

बीस तीर्थंकरों ने सम्मेद शिखर से निर्वाण प्राप्त किया, इस प्रकार के उल्लेख सभी जैन शास्त्रों में मिलते हैं। शास्त्रीय मान्यता यह भी है कि जहाँ से तीर्थंकरों ने मुक्ति प्राप्त की, उस स्थान पर सौधर्मेन्द्र ने स्वस्तिक बना दिया जिससे उस स्थान की पहचान हो सके। यतिवर मदनकीर्ति ने 'शासन चतुस्त्रिंशिका' नामक ग्रन्थ में यहाँ तक लिखा है कि सम्मेद शिखर पर सौधर्मेन्द्र ने बीस तीर्थंकरों की प्रतिमायें स्थापित कीं। वे प्रतिमायें अद्भुत थीं। उनका प्रभा मण्डल प्रतिमाओं के आकार का था। श्रद्धालु भव्य जन ही इन प्रतिमाओं के दर्शन कर सकते थे। जिनके हृदय में श्रद्धा नहीं होती थी, वे इस प्रभा-पुँज को देख नहीं पाते थे।

अनुश्रुति यह भी है कि महाराज श्रेणिक बिम्बसार ने सम्मेद शिखर पर बीस मन्दिर बनवाये थे। इसके पश्चात् सत्रहवीं शताब्दी में महाराज मानसिंह के मंत्री तथा प्रसिद्ध व्यापारी गोधा गोत्रीय रूपचन्द्र खण्डेलवाल के पुत्र नानू ने बीस तीर्थंकरों के मन्दिर बनवाये। नानू के बनवाये हुए वे ही मन्दिर या टोंकें अब तक वहाँ विद्यमान हैं। मंत्रीवर्य नानू ने इन मन्दिरों

(टोंकों) में चरण विराजमान किये थे।

सम्मेद शिखर जाने के लिये दिल्ली या कलकत्ता की ओर से आने वाले यात्रियो के लिये पारसनाथ स्टेशन पर उतरना सुविधाजनक रहता है। गिरीडीह भी उतर सकते हैं। ईसरी में तेरहपंथी और बीसपथी धर्मशालायें बनी हुई हैं। यहाँ चार दिगम्बर जैन मन्दिर हैं। यहाँ से मधुवन १४ मील है। क्षेत्र की बस और टैक्सियाँ चलती है। मधुवन में दिगम्बर जैन तेरहपथी कोठी और बीसपंथी कोठो की विशाल धर्मशालायें, मन्दिर बने हुए हैं। ये कोठियाँ सम्मेद शिखर की तलहटी में हैं।

सम्मेद शिखर की यात्रा के लिये दो मार्ग है–नीमियाघाट होकर अथवा मधुवन होकर। नीमियाघाट पर्वत के दक्षिण की ओर है। इधर से यात्रा करने पर सबसे पहले पार्श्वनाथ टोक पड़ती है। किन्तु मधुवन की ओर से यात्रा करना ही सुविधाजनक है। कुल यात्रा १८ मील की पड़ती है जिसमें ६ मील चढ़ाई, ६ मील टोकों की वन्दना और ६ मील उतराई। यात्रा के लिये रात्रि में प्राय: दो बजे उठकर शौच, स्नानादि से निवृत्त होकर तीन बजे चल देते हैं। साथ में लाठी और लालटैन लेने से सुबिधा रहती है। असमर्थ स्त्री-पुरुष डोली लेते हैं तथा बच्चों के लिये भील ले लेते है।

मधुवन में डोली वाले, भील, लाठी, लालटेन आदि मिल जाते हैं। शौच आदि से यही निवृत्त हो लेना चाहिये। यदि मार्ग में बाधा हो तो मधुवन से २॥ मील चलकर गन्धर्व नाला पडता है, यहा निवृत्त हो लेना चाहिये। इसके पश्चात् मल, मूत्रादि पर्वत पर जाकर नहीं करना चाहिये। इसका कारण पर्वत की पवित्रता है। गन्धर्व नाले से कुछ आगे चलने पर दो रास्ते मिलते है। एक रास्ता सीतानाले की ओर जाता है ओर दूसरा पार्श्वनाथ टोंक को। बाई ओर के रास्ते पर जाना चाहिये। आगे सीतानाला मिलता है। यहां अपनी सामग्री धोलेनी चाहिय एवं अभिषेक के लिये जल ले लेना चाहिये। यहां से आगे एक मील तक पक्की सीढ़ियां बनी हुई हैं।

पहाड़ पर ऊपर चढ़ने पर सर्वप्रथम गौतम स्वामी की टोंक मिलती है। यहां यात्रियों के विश्राम के लिये एक कमरा भी बना हुआ है। टोंक से बांये हाथ की ओर मुड़कर पूर्व दिशा की १५ टोंकों की वन्दना करनी चाहिये। भगवान अभिनन्दनाथ की टोंक से उतर कर जल मन्दिर में जाते हैं। यहां एक विशाल जिन मन्दिर बना हुआ है। उसके चारों ओर जल भरा हुआ है। यहां से गौतम स्वामी की टोंक पर पहुंचते हैं, जहां

से यात्रा प्रारम्भ की थी । इस स्थान से चारों ओर को रास्ता जाता है। पहला जल मन्दिर को, दूसरा मधुवन को, तीसरा कुन्थुनाथ टोंक को और चौथा पार्श्वनाथ टोंक को । अतः यहां से पश्चिम दिशा की ओर जाकर शेष नौ टोंकों की वन्दना करनी चाहिये । पर्वत पर श्वेताम्बर समाज ने ऋष-भानन, चन्द्रानन आदि टोंकें और चरण नवीन बना दिये हैं। अन्तिम टोंक पार्श्वनाथ भगवान की है । यह टोंक सबसे ऊंची है और मन्दिर के समान है । यहाँ बैठकर पूजन करनी चाहिये । यहां खड़े होकर देखें तो चारों ओर का प्राकृतिक दृश्य अत्यन्त मनोरम प्रतीत होता है। मन में प्रफुल्लता भर जाती है । यात्री यहां आकर अपनी सारी थकावट भूल जाता है। यहां से वापिस मधुवन को लौट जाते हैं। कुछ यात्री पर्वत की तीन, सात या इससे भी अधिक वन्दना करते हैं ।

★

२४. भगवान महावीर

पूर्व भव—

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षत्र में सीता नदी के उत्तर किनारे पर पुष्कलावती नामक देश में मधु नामक गहन वन में भीलो का सरदार पुरुरवा नाम का रहता था। यह ही भगवान महावीर का जीव था। पुरुरवा भीलने किसी मुनि से मांस न खाने का व्रत ले लिया। व्रत का पूर्ण रूप से पालन करने पर अन्त समय में वह मरकर प्रथम स्वर्ग में महर्द्धिकदेव हुवा। वहां से आयु पूर्ण कर, वह जीव प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के चक्रवृर्ती पुत्र भरत की रानी अनन्तमती के गर्भ से मारीचि नामक पुत्र हुवा। जब भगवान ऋषभदेव ने दीक्षा ली तो इस मारीचि ने भी दीक्षा लेली, परन्तु वह पूर्ण संयम न पाल सका, फिर भी मरकर ब्रह्म स्वर्ग का देव बना। देवायु पूर्ण कर अयोध्या नगरी के वेदपाठी कपिल के यहां जटिल नामक पुत्र हुवा। सन्यास धारण कर व तप करके, मरकर सौधर्म स्वर्ग का देव बना। वहां से आयु पूर्ण कर स्थूणागार नगर में भरद्वाज ब्राह्मण के यहां पुष्पपुत्र नामक पुत्र हुवा। यहां सन्यास धारण कर, मन्द कषाय के कारण पुनः सौधर्म स्वर्ग में देव हुवा। इसके बाद आयु पूर्ण कर, सूतिका गांव में अग्निभूत ब्राह्मण के यहां अग्निसह नामक पुत्र हुवा। वहां से फिर स्वर्ग का देव हुवा। वहां च्युत कर मन्दिर नामक गाव में गौतम ब्राह्मण के अग्निमित्र नामक पुत्र हुवा। यहां परिव्राजक बना और मरकर माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुवा। वहां से आयु पूर्ण कर वह मन्दिर नगर में शान्कायन ब्राह्मण का भरद्वाज पुत्र हुवा। वहां यह त्रिदण्डी बन गया अत: फिर माहेन्द्र स्वर्ग का देव बना। इसके पश्चात् अनेक योनियों में भ्रमण करता, राजग्रह नगर में देवज्ञ शाडिल्य ब्राह्मण का पुत्र हुवा फिर परिव्राजक बना और माहेन्द्र स्वर्ग का देव हुवा। वहां से च्युत ही फिर राजग्रह नगर में विश्वभूति नरेश की स्त्री से विश्वनन्दी नामक पुत्र हुवा। यहां उसके चाचा विशाखानन्द ने उससे धोका किया जिससे विश्वनन्दी वृक्ष को उखाड़ उसे मारने दोड़ा। विशाखानन्दी डरकर भाग गया पर विश्वनन्दी को वैराग्य हुवा और उसने सम्भूत नामक मुनिराज के पास जाकर मुनि दीक्षा लेली। पर किसी कारण संकलेश भाव से मरकर व निदान बांध महाशुक्र स्वर्ग में देव हुवा। वहां से च्युत हो विश्वनन्दि का जीव सुरम्य देश के पोदनपुर-

३ तीर्थंकरों की शुद्ध पञ्चकल्याणक तिथियां और नक्षत्र

तीर्थंकर	गर्भ	जन्म	तप	ज्ञान	मोक्ष	नक्षत्र
१ ऋषदेव	आषाढ़ कृ० २	चैत्र कृ० ९	चैत्र कृ० ९	फाल्गुन कृ० ११	माघ कृ० १४	उत्तराषाढ़
२. अजितनाथ	ज्येष्ठ कृ० ३०	माघ शु० १०	माघ शु० ९	पौष शु० ११	चैत्र शु० ४	रोहिणी
३. संभवनाथ	फाल्गुन शु० ८	कार्तिक शु० १५	मा०शी०शु० १५	कार्तिक कृ० ४	चैत्र शु० ६	मृगशिरा
४. अभिनन्दननाथ	वैशाख शु० ६	माघ शु० १२	माघ शु० १२	पौष शु० १४	वैशाख शु० ६	पुनर्वसु
५ सुमतिनाथ	श्रावण शु० २	चैत्र शु० ११	वैशाख शु० ९	चैत्र शु० १५	चैत्र शु० ११	माघ
६. पद्मप्रभु	माघ कृ० ६	कार्तिक कृ० १३	कार्तिक कृ० १३	चैत्र शु० ११	फाल्गुन कृ० ४	चित्रा
७. सुपार्श्वनाथ	भाद्रपद शु० ६	ज्येष्ठ शु० १२	ज्येष्ठ शु० १२	फाल्गुन कृ० ६	फाल्गुन कृ० ७	विशाखा
८. चन्द्रप्रभ	चैत्र कृ० ५	पौष कृ० ११	पौष कृ० १०	फाल्गुन कृ० ७	फाल्गुन कृ० ७	अनुराधा
९. पुष्पदन्त	फाल्गुन कृ० ९	मा०शी०शु० १	मा०शी०शु० १	कार्तिक शु० २	भाद्रपद शु० ८	मूल
१०. शीतलनाथ	चैत्र कृ० ८	माघ कृ० १२	माघ कृ० १२	पौष कृ० १४	आश्विन शु० ८	पूर्वाषाढ़
११ श्रेयान्सनाथ	ज्येष्ठ कृ० ६	फाल्गुन कृ० ११	फाल्गुन कृ० ११	माघ शु० ३०	श्रावण शु० १५	श्रवण
१२. वासुपूज्य	आषाढ़ कृ० ६	फाल्गुन कृ० १४	फाल्गुन कृ० १४	माघ शु० २	भाद्र० शु० १४	शतभिषा

१३	विमलनाथ	ज्येष्ठ कृ० १०	माघ शु० ४	माघ शु० ४	माघ शु० २	आषाढ़ कृ० ८	उत्तरा भाद्रपद
१४.	अनन्तनाथ	कार्तिक कृ० १	ज्येष्ठ कृ० १२	ज्येष्ठ कृ० १२	चैत्र कृ० ३०	चैत्र कृ० ३०	रेवती
१५	धर्मनाथ	वैशाख कृ० १३ रेवती	माघ शु० १३	माघ शु० १३	पौष शु० १५	ज्येष्ठ शु० ४	पुष्य
१६.	शान्तिनाथ	भाद्रपद कृ० ७	ज्येष्ठ कृ० १४	ज्येष्ठ कृ० १४	पौष शु० १०	ज्येष्ठ कृ० १४	भरणी
१७.	कुन्थुनाथ	श्रावण कृ० १०	वैशाख शु० १	वैशाख शु० १	चैत्र शु० ३	वैशाख शु० १	कृत्तिका
१८.	अरनाथ	फाल्गुन शु० ३	मा०शी०शु० १४	मा०शी०शु० १०	कार्तिक शु० १२	चैत्र कृ० ३०	रेवती
१९.	मल्लिनाथ	चैत्र शु० १	मा०शी०शु० ११	मा०शी०शु० ११	पौष कृ० २	फाल्गुन शु० ५	अश्विनी
२०.	मुनिसुव्रतनाथ	श्रावण कृ० २	वैशाख कृ० १०	वैशाख कृ० १०	वैशाख कृ० ९	फाल्गुन कृ० १२	श्रवण
२१.	नमिनाथ	आश्विन कृ० २	आषाढ कृ० १०	आषाढ़ कृ० १०	मा०शी०शु० १	वैशाख कृ० १४	अश्विनी
२२.	नेमिनाथ	कार्तिक शु० ६ उत्तरा	श्रावण शु० ६	श्रावण शु० ६	आश्विन शु० १	आषाढ शु० ७	चित्रा
२३.	पार्श्वनाथ	वैशाख कृ० २	पौष कृ० ११	पौष कृ० ११	चैत्र कृ० ४	श्रावण शु० ७	विशाखा
२४.	महावीर	आषाढ़ शु० ६	चैत्र शु० १३	मा०शी० कृ० १०	वैशाख शु० १०	कार्तिक कृ० १४	उत्तरा फाल्गुन स्वाति ३०

★

चौबीस तीर्थंकरों के चिन्ह

— आत्म कीर्तन —

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आतम राम ।। टेक ।।

मै वह हूँ जो है भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यही राग वितान ।। १ ।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आश वश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।। २ ।।

सुख दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुख की खान ।
निजको निज पर को पर जान, फिर दुख का नहि लेश निदान ।।३।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुचूँ निज धाम, आकुलता का फिर क्या काम ।।४।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मै जग का करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ।। ५ ।।

—: आत्मरमण :—

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हू मै सहजानन्द स्वरूपी हूं ।।टेक।।

हूँ ज्ञानमात्र परभाव शून्य, हूँ सहज ज्ञान घन स्वयं पूर्ण ।
हूं सत्य सहज आनन्दधाम, मैं सहजानन्द स्वरूपी हूं ।।

हू खुद का हो कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नही ।।
पर का न प्रवेश न का यहा मैं सहजानन्द स्वरूपी हूं ।

आऊ उतरू रमलूं निजमें, निजकी निजमें दुविधा ही क्या ।।
निज अनुभवरससे सहजतृप्त, मैं सहजानन्द स्वरूपी हूँ ।

★

— मृत्यु महोत्सव भावना —

दिन रात मेरे भगवन, मैं भावना ये भाऊं ।
देहान्त के समय में तुमको न भूल जाऊं ॥

शत्रु यदि कोई हों सन्तुष्ट उनको कर दूं ।
समता का भाव रखकर, सबसे क्षमा कराऊं ॥

त्यागूं आहार–पानी, औषधि विचार अवसर ।
टूटे नियम ना कोई, दृढ़ता हृदय में लाऊं ॥

जागे नहीं कषायें नहीं वेदना सतावे ।
तुम मे ही लौ लगी हो, दुर्ध्यान को भगाऊं ॥

आत्म स्वरुप अथवा, आराधना विचारूं ।
अरहंत, सिद्ध साधु, रटना यही लगाऊं ॥

धर्मात्मा निकट हों, चर्चा धर्म सुनावें ।
वो सावधान रक्खें, गाफिल न होने पाऊं ॥

जीने की हो न वांछा, मरने की हो न ख्वाहिश ।
परिवार मित्र जन से, मैं मोह को हटाऊं ॥

भोगे जो भोग अबतक, उनका न होवे सुमरन ।
मैं राजसम्पदा या, पद इन्द्र का न चाहूं ॥

रत्नत्रय का पालन, हो अन्त मे समाधि ।
प्रार्थना मेरी यही है, जीवन सफल बनाऊं ॥

त्रिवेणी प्रिन्टर्स, ८८ प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर फोन : ५६८१